भारत में विज्ञान के बढ़ते कदम

विनीता सिंघल

सा

साहित्य भारती

प्राक्कथन

श्रीमती इंदिरा गांधी ने 1968 में देश में हरित क्रांति के आरम्भ के अवसर पर एक डाक टिकट जारी करते हुए कहा था, 'सदियों तक भगवान अकेला ही हमारे खेतों में काम करता रहा। उसके बाद हमने उसके साथ मिलकर काम करना प्रारम्भ किया तो अब से 10,000 साल पहले खेती का आरम्भ हुआ। अब, जब भगवान और हमारे साथ, वैज्ञानिक भी मिल गए हैं तो निस्संदेह गेहूं की एक की जगह दो बालियां उगाई जा सकेंगी।'

ऐसा ही अन्य क्षेत्रों के लिए भी कहा जा सकता है। पिछले 2,000 सालों में भारत में इतना औद्योगिक विकास नहीं हुआ था जितना कि पिछले पचास सालों में हुआ है। शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा होगा जो इस प्रगति से अछूता बचा हो। लेकिन आज भी देश में बहुत से लोग ऐसे हैं जिन्हें इस तकनीकी प्रगति की कोई जानकारी नहीं है। उनकी यह अज्ञानता उन्हें इन सब उपलब्धियों से दूर रखे हुए है। उन्हे नवीन तकनीकों की जानकारी प्राप्त करने का सुअवसर संयोग से ही मिलता है। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे यहां जो भी अनुसंधान होते हैं, उनके संबंध में बहुत कम जानकारी प्रयोगशालाओं के बाहर आ पाती है। एक तरह से यह भी कह सकते हैं कि वैज्ञानिक बिरादरी और आम आदमी के बीच परस्पर संवाद न के बराबर है।

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य इन आधुनिक अनुसंधानों को आम लोगों तक, उन्हीं की भाषा में पहुंचाना है। इसमें हमारे जीवन से संबंधित सभी प्रमुख क्षेत्रों यथा ऊर्जा, स्वास्थ्य, जैवप्रौद्योगिकी, परमाणु ऊर्जा, टेलीकम्म्यूनिकेशन, अंतरिक्ष, कम्प्यूटर, कृषि आदि में हुई प्रगति का विवरण दिया गया है। हर क्षेत्र में हुई उल्लेखनीय प्रगति के कारण ही हम आज विकासशील देशों में सबसे आगे हैं। आज हम कृषि मे इतना उत्पादन बढाने में सक्षम हुए हैं कि बढती आबादी का पेट भर

सके। स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी हम स्वावलंबी हुए हैं। अनेक ऐसी जीवनदायनी औषधियां और टीके जो कभी विदेश से मंगाने पड़ते थे, अब देश में ही बनने लगे हैं। इतना ही नहीं, कोढ़ और एड्स जैसी बीमारी का टीका विकसित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। सौर ऊर्जा ने गांव गांव में उजाला फैला दिया है। परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र मे हुई अभूतपूर्व प्रगति के फलस्वरूप देश में आठ हेवी वाटर रिएक्टर काम कर रहे हैं।

अंतरिक्ष के क्षेत्र में तो हम विकसित देशों के समकक्ष कहे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में हुई प्रगति के कारण ही अब दूर दराज के गांवों में भी न केवल टेलीफोन की सुविधा उपलब्ध है बल्कि मनोरंजन के आधुनिक साधन भी उपलब्ध हैं। आधुनिक अस्त्रों शस्त्रों से सजी हमारी सेनाएं, सीमाओं की रक्षा करने में पहले से कहीं अधिक सक्षम हैं। इनके अतिरिक्त इस पुस्तक में जैवप्रौद्योगिकी जैसे नवीनतम विषय की भी जानकारी देने का प्रयास किया गया है जिसने विज्ञान की कई शाखाओं को प्रभावित किया है।

आशा है अनेक चित्रों से सुसज्जित, सरल भाषा में लिखी गई यह पुस्तक लोगों को पिछले पचास सालों में देश में हुई वैज्ञानिक एव औद्योगिक प्रगति से परिचित करा सकेगी। पहले मैंने इस पुस्तक को नाम दिया था 'प्रगति के पथ पर'। लेकिन फिर कुछ ऐसा लगा कि यह शीर्षक पुस्तक की विषय वस्तु के पूरी तरह अनुरूप नहीं है इसीलिए अब मैंने इसे 'भारत में विज्ञान के बढ़ते कदम' का नाम दिया है। कितना सटीक बन पड़ा है, इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ती हूं।

--विनीता सिंघल

अनुक्रम

एक नज़र अतीत पर

आज हमारा देश विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी प्रगति कर चुका है बल्कि विश्व के विकसित देशों के समकक्ष कहा जा सकता है। लेकिन सच तो यह है कि प्राचीन काल में भी हमारा देश विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में दुनिया भर के देशों से आगे था। विशेष रूप से गणित और चिकित्सा में भारत के महत्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता। प्राचीन काल में गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान संबंधी ज्ञान भारत से विदेशों में पहुंचा और अन्य देशों ने भी प्रगति की।

यूरोपवासियों के एशिया में प्रवेश के समय भारत, चीन, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया में विज्ञान विकास के सोपान पर था। उदाहरण के लिए जब हिन्दुस्तान से बौद्ध भिक्षुओं ने चीन जाकर वहां के निवासियों को साल्टपीटर के विषय में बताया तब वहां गन पाउडर बना। ब्लॉक प्रिंटिंग का आरम्भ भी भारत से ही हुआ जब बौद्ध भिक्षुओं ने कपड़ों पर भगवान बुद्ध के चित्र छापे। इतना ही नहीं जब बगदाद में दारुल हिक्मा बना तो वहां विद्यार्थियों के लिए भारत में संस्कृत भाषा में लिखी गणित, खगोल विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद अरबी भाषा में किया गया। इसी अनुवाद के फलस्वरूप पश्चिम एशिया में विज्ञान का विकास हुआ। अलबेरूनी ने अपनी भारत यात्रा संबंधी वृत्तांतों में स्पष्ट लिखा है कि विज्ञान में जितनी प्रगति भारत में हुई उतनी और कहीं नहीं हुई। गणित के क्षेत्र में तो हिन्दुस्तान दुनिया में सबसे

आगे था ही, खगोल विज्ञान में भी उसका कोई सानी नहीं था। मात्र 23 वर्ष की आयु में आर्यभट्ट ने गणित और ज्योतिष विज्ञान पर ग्रंथ लिखे। भास्कर को भारत के द्वितीय विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ होने का गौरव प्राप्त है। वराहमिहिर के वृहत्संहिता और ब्रह्मपुत्र के ब्रह्म सिद्धांत ग्रंथों में सूर्य ग्रहण से संबंधित भविष्यवाणियां मिलती हैं।

भारतीय गणित कितना महत्त्वपूर्ण था इसका इब्नेसीना की जीवनी में दिए गए एक विवरण से पता चलता है। उन्होंने लिखा है कि जब उन्होंने गणित सीखने की इच्छा जाहिर की तो उनके पिता ने उन्हें एक ऐसे सब्जी विक्रेता के पास भेजा जो हिन्दुस्तानी गणित का अच्छा जानकार था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय गणित का दुनिया में कितना बोलबाला था और लोग अपने दैनिक हिसाब-किताब के लिए उसका ही प्रयोग करते थे। इतना ही नहीं अलबेरूनी ने वराहमिहिर और भास्कर की संस्कृत में लिखी पुस्तकों का अनुवाद अरबी भाषा में किया। अरबी भाषा में अनुदित इन पुस्तकों का दुनिया भर में प्रयोग किया गया।

जहां भी चिकित्सा का वर्णन प्राचीन प्रसंग में आता है वहां आयुर्वेद का वर्णन भी अवश्य आता है और इसके साथ ही जुड़े हैं दो नाम जिन्हें चिकित्सा के क्षेत्र में अत्यंत आदरणीय स्थान प्राप्त है। ये नाम हैं चरक और सुश्रुत। चरक एक फिजीशियन थे जबकि सुश्रुत एक शल्यचिकित्सक थे। इन दोनों की लिखी हुयी पुस्तकों का भी अरबी फारसी में अनुवाद हुआ। दुनिया भर में लोगों ने इन चिकित्सा पद्धतियों का लाभ उठाया। मध्य एशिया में यूनानी चिकित्सा की नींव इन दोनों के कार्यों से ही पड़ी। इन चिकित्सा पद्धतियों में चिकित्सा मुख्य रूप से मौसम के अनुसार की जाती थी। देखने में यह बड़ी साधारण सी बात लगती है लेकिन रोगी इससे ठीक भी हो जाते थे। लोग देशी और घरेलू चिकित्सा में विश्वास करते थे। घरेलू स्त्रियों को भी छोटी छोटी बीमारियो के लिए घरेलू नुस्खे
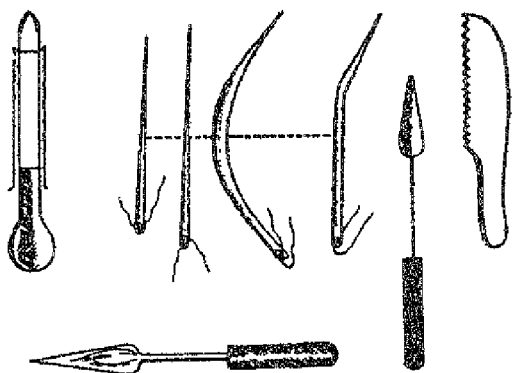
चरक (ऊपर, बाएं), सुश्रुत (ऊपर, दाएं) और
उनके शल्य चिकित्सा उपकरण

मालूम थे जैसे कि जुकाम या बुखार में क्या दवा देनी चाहि
या पेट दर्द में क्या देने से लाभ होगा।

खगोल विज्ञान का प्रयोग लोग शादी ब्याह और दूसरे रस्
रिवाजों में करते थे। ज्योतिष विज्ञान को हालांकि आज भी
विज्ञान नहीं समझा जाता लेकिन इसका उपयोग भारत में बहु
जाता रहा है। इसी प्रकारयोग किया जाता था। केवल स्वस
रहने के लिए ही योग का महत्व नहीं था बल्कि इसके औ
भी कई लाभ थे जैसे कि संगीतज्ञो के लिए ऐसे योगासन

कोणार्क के सूर्य मंदिर में लगे बारह चक्र, वर्ष के बारह महीनों को दर्शाते हैं

े उनकी आवाज मधुर हो सके। इसी प्रकार
जो आसन थे उनसे उनके अंगों में लचक आती
लोगों को तकनीकों का भी कुछ ज्ञान था जैसे वि
ा बनाया जाता था जिसे रंगने के लिए कच्चे
प्रयोग किया जाता था। कच्चे रंगों को भी पक
आता था। खाने में विभिन्न अचार मुरब्बे आ
आता था। डॉ आचार्य ने अपनी पुस्तक 'फूड
एन्शिऐंट इन्डिया' में लिखा है कि खाना खाने
कला, माइनिंग और मैटल टैक्नोलॉजी का भारत
ज्ञान था। तकनीकी के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रग
ा में हुई। यहां न केवल कपड़ा बनाया जाता
ा रोम आदि देशों को निर्यात किया जाता था

अकबर ने आइने अकबरी में लिखा था कि जस्त धातु के बारे में दुनिया में किसी को ज्ञान नहीं था, लेकिन भारत मे इस का खनन एवं प्रयोग तब भी होता था। जावर माइन्स में, जहां आज संग्रहालय बनाया गया है, इस धातु पर काम होता था। वहां आज भी पुराने पात्र रखे हैं जिनमें जस्त जमा किया जाता था। हमारे यहां सप्त एवं अष्ट धातु के बहुत से बर्तन एवं आभूषण बनाए जाते थे। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थित लौह स्तम्भ भी इसका प्रमाण है कि भारत में लोग लोहे के बारे में जानते थे। यद्यपि यह स्तम्भ केवल लोहे का बना हुआ नहीं है वरन किसी ऐसी मिश्र धातु का है जिस पर जंग नहीं लगता।

एक ओर विज्ञान निरंतर प्रगति कर रहा था वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य का दर्शनशास्त्र लोगों को दूसरी दिशा में ले जा रहा था। हालांकि दर्शनशास्त्र का ज्ञान इतना गूढ़ था कि उसकी मिसाल आज तक देखने को नहीं मिलती। उन्हीं दिनो रामानुजन और माधवा आदि ने भक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाया। यद्यपि भक्ति आन्दोलन का आरम्भ सातवी शताब्दी में ही हो चुका था। आम आदमी को न तो दर्शन और उसका महत्व समझ में आता था और न ही विज्ञान से उसका कुछ लेना देना था। फलस्वरूप उनमें भक्ति की जड़ें गहरी होती गयीं और विज्ञान और उसका महत्व एक ओर रह गए और उसकी पर्याप्त प्रगति नहीं हो पायी। आठवीं-नवीं शताब्दी में अरबवासियों का भारत में प्रवेश हुआ। इससे ज्ञान-विज्ञान का आदान प्रदान तो हुआ किन्तु वहां का सूफी मत आड़े आ गया। यही कारण था कि इस ज्ञान-विज्ञान के आदान प्रदान के बाद भी विज्ञान की उतनी प्रगति नहीं हो पायी जितनी कि होनी चाहिए थी।

अंग्रेजों का कहना है कि बारहवीं शताब्दी के बाद भारत में विज्ञान के क्षेत्र में बिल्कुल भी प्रगति नहीं हुयी बल्कि वह

सवाई जयसिंह द्वारा निर्मित जयपुर का जन्तर मन्तर

भग समाप्त ही हो गया। लेकिन बाद में इस संबंध में हुए
। से यह गलत सिद्ध हो गया। बाद में बारहवीं से
ठारहवीं शताब्दी के दौरान हिन्दुस्तान में संस्कृत, अरबी और
रसी भाषा में लिखी गयी वैज्ञानिक पुस्तकों के विवरण भी
त हुए। इनसे पता चलता है कि भारत में विज्ञान की प्रगति
तर होती रही बल्कि यूरोप में थम सी गयी थी। प्रसिद्ध
इासकार प्रो जोजफ नीढम ने चीन की वैज्ञानिक प्रगति पर
बी पुस्तक में लिखा है कि सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दुस्तान
विज्ञान, यूरोप से कहीं आगे था। यदि यह सच है तो
का अर्थ हुआ कि वह आगे चल कर अट्ठारहवीं शताब्दी
किसी समय पिछड़ गया। वह कारण क्या रहे होंगे, कहना
ठन है।

हिन्दुस्तान में विज्ञान कितना विकसित था इसके आज भी
क प्रतीक मौजूद हैं जैसे कि प्राचीन काल में बनायी गयी
ालाएं आज भी जयपुर, दिल्ली, उज्जैन और वाराणसी में
ूद हैं। जयसिंह द्वितीय ने ईंट पत्थरों से जन्तर मन्तर

बनवाया क्योंकि उनका मानना था कि धातुओं से बने यन्त्र समय के साथ घिस जाते हैं और उनकी परिशुद्धता भी समाप्त हो जाती है। ये यंत्र आज भी प्राचीन भारत में विज्ञान की प्रगति को दर्शा रहे हैं। उस समय नाप जोख के मामले में इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि नाप बिल्कुल सही हो।

भारत में विज्ञान सदैव संस्कृति से जुड़ा रहा है बल्कि उसका ही एक हिस्सा रहा है। यदि आज भी हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी को अपने रहन सहन और संस्कृति से नहीं जोड़ेंगे तो यह हमारी संस्कृति का अंग नहीं बन पाएंगे और हमारा वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास अधूरा ही रह जाएगा।

आत्मनिर्भरता की ओर

सदेव ही कृषि, भारतीय आर्थिकी का मुख्य अंग रही है। आज भी देश की कुल आबादी का लगभग 70 प्रतिशत कृषि कार्य में लगा हुआ है। यद्यपि देश की आबादी 2 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ती रही है और इतनी आबादी का पेट भरने लायक अन्न जुटाना आसान काम नहीं था फिर भी वैज्ञानिकों के अथक प्रयासों के फलस्वरूप कृषि उत्पादन मे संतुलन बनाए रखने में काफी हद तक सफलता मिली है। वर्ष 1950-51 में 510 लाख टन खाद्यान्न उत्पादन की तुलना में आज यह उत्पादन लगभग 1890 लाख टन हो गया है। इसके अतिरिक्त बागवानी, पशुधन, दूध, मत्स्य एवं पोलट्री उत्पादन के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण विकास हुआ है। यद्यपि आज हम कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हैं, अभी कृषि के क्षेत्र में विकास की असीम संभावनाएं शेष हैं।

वर्ष 1905 में पूसा में इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना से लेकर वर्तमान इण्डियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च तक लंबी कहानी है। आज राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान तंत्र के अर्न्तगत 49 अनुसंधान संस्थान, 30 राष्ट्रीय अनुसंधान केन्द्र, 10 परियोजना निदेशालय, 78 अखिल भारतीय समन्वय अनुसंधान परियोजनाएं/नेटवर्क और 16 अन्य परियोजना कार्यक्रम हैं। इनका मुख्य लक्ष्य सन् 2000 तक फलों की उपज को 450 लाख टन सब्जी की उपज को

ी ओर
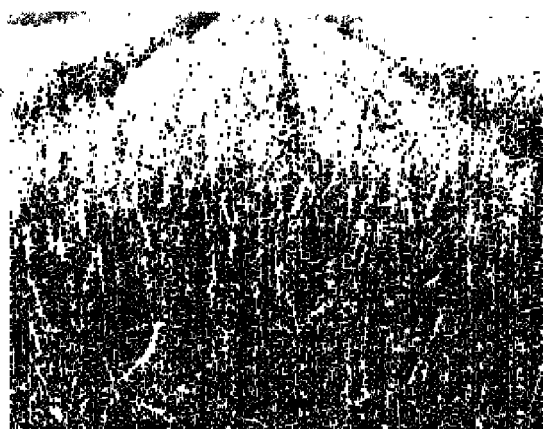
गेहूं की अधिक उपज देने वाली क़िस्म

फल, काली मिर्च के उत्पादन को 60,000
हरी सब्जियों का उत्पादन भी 100 लाख टन
'0 लाख टन हो गया है। 'पीली क्रांति' के क
वार्षिक उत्पादन 50 लाख टन से बढ़ कर
हो गया है। नीली क्रांति के परिणामस्वरूप म
75 लाख टन से बढ़ कर 500 लाख टन

कृषि के इतिहास में छठे दशक को मील का प
ता है जब कि प्रकृति के असामयिक उतार च
लिए कृषि नीतियों की नवीन संरचना की
कार्यक्रम को लागू करने के लिए आपदाओं
बदला गया जिसका मुख्य केन्द्र उच्च उपज
क, सिंचाई और पादप सुरक्षा की नवीन तकन
था। वर्ष 1966-67 में हमारी खाद्यान्न फ
गेहूं ने 1000 किग्रा/हे के लक्ष्य को पार वि

और तब हमारे देश ने हरित क्रांति के युग में प्रवेश किया। प्रौद्योगिकियों के एकीकरण से वर्ष 1970-71 में खाद्यान्नों का लगभग 1080 लाख टन का रिकार्ड उत्पादन हुआ। यह उपज नवें दशक तक बढ़ कर 2000 किग्रा/हे. तक पहुंच गई। तब पहली बार खाद्य उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता का अनुभव किया गया। यह भी देखा गया कि अन्य वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई।

भारत में गेहूं, चावल की अर्ध वामन किस्मों और मक्का, ज्वार और बाजरा की संकर किस्मों से लाभ उठाने के लिए 1966 में 'हाइ-इल्डिंग वरायटीज' प्रोग्राम आरम्भ किया गया। मेक्सिको से 1965 में क्षेत्र परीक्षणों के लिए गेहूं की उच्च उपज वाली वामन किस्मों लर्मा रोजो 64ए और सोनोरा 64 के 250 टन बीजों का निर्यात किया गया। इन किस्मों से प्रभावित होकर 1966 में भारत सरकार ने 18,000 टन बीजों का निर्यात किया।

भारतीय वैज्ञानिकों ने यहां की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नई किस्में विकसित करने के प्रयास आरंभ किए। इन प्रयासों के फलस्वरूप दो नवीन किस्में कल्यान सोना और सोनालिका विकसित की गई। ये दोनों ही किस्में यहां की अधिकांश कृषि जलवायविक परिस्थितियों के अनुरूप हैं। जल्दी ही विभिन्न नामों से ये किस्में सारे देश में लोकप्रिय हो गई।

इसी समय चावल की भी ऐसी वामन किस्में विकसित करने के प्रयास किए गए जो उर्वरक की अधिक मात्रा को सहन करने के साथ साथ अधिक उपज भी दें। फिलीपीन्स से लायी गयी दो विदेशी किस्में ताइचुंग नेटिव 1 और ताइनान 3 अधिक उपज के बावजूद भी पसंद नहीं की गयी। जल्दी ही यहां के वैज्ञानिकों ने इन विदेशी क़िस्मों के साथ स्वदेशी किस्मों

और

मिलियन टन

वास्तविक उत्पादन

भारत में गेहूं का कुल उत्पादन

वास्तविक

भारत में दालों का कुल उत्पादन

को क्रास करा कर अनेक नए जीनोटाइप निकाले जो भारतीय किसानों की जरूरत के अनुरूप थे। ये भारतीय किस्में केवल देश में ही नहीं बल्कि विदेश में भी लोकप्रिय हुई। कृषि के क्षेत्र में हुए ये विकास देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए वरदान सिद्ध हुए। इनके कारण ही भारत में जो खाद्यान्न उत्पादन वर्ष 1950-51 में 510 लाख टन था वह 1970-71 में बढ़ कर 1080 लाख टन हो गया। वर्ष 1994-95 में यह उत्पादन 1920 लाख टन तक पहुंच गया जिसका श्रेय कृषि के क्षेत्र में हुए सफल वैज्ञानिक अनुसंधानों को जाता है। खाद्यान्नों में सबसे अधिक उत्पादन गेहूं और चावल का होता है और इसके बाद आते हैं मक्का, बाजरा और ज्वार।

कृषि वैज्ञानिकों का उद्देश्य मात्र अधिक उपज वाली किस्में विकसित करना ही नहीं था। अगला चरण ऐसी किस्में विकसित करना था जिनमें रोग प्रतिरोध, जैविक और अ-जैविक दबावों को सहने की क्षमता जैसे गुण हों क्योंकि ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे उपज प्रभावित होती है। देश के कुछ भागों में चावल की फसल जीवाण्विक पर्ण धब्बा और टुंगरो विषाणु जैसे रोगों एवं ब्राउन प्लांट हॉपर और पिटिका मशकाभ जैसे नाशक कीटों से ग्रस्त रहती है। पिछले 20 वर्षों के अनथक प्रयासों से अनेक ऐसी किस्में निकालने में सफलता मिली है जिनमें प्रतिरोधी गुण मौजूद हैं। इनमें 36 पिटिका मशकाभ विरोधी किस्में, 22 ब्राउन प्लांट हॉपर विरोधी, 3 स्तंभ बेधक विरोधी, 2 हरित पर्ण टिड्डा प्रतिरोधी किस्में हैं और तीन ऐसी किस्में हैं जो एक से अधिक नाशककीट प्रतिरोधी हैं। पिछले तीन दशकों में चावल की 500 से अधिक किस्में खेती के लिए रिलीज की गयी।

गेहूं की किट्ट सह किस्मों यूपी 2338, एच डी 2285, डब्ल्यू एच 542 और पी बी डब्ल्यू 343 आदि को अपनाए जाने से उत्पादन में होने वाली क्षति में काफी कमी आयी है।

इसी प्रकार, ब्राउन रस्ट और पर्ण रोग सुग्राही लोकप्रिय किस्म सोनालिका का स्थान सोनाली, के 8804 और एच पी 1633 ने ले लिया है। करनाल बंट और लवणता सह किस्मों का विकास एक बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है। अब तक विभिन्न जलवायविक परिस्थितियों के लिए उपयुक्त गेहूं की 160 किस्में रिलीज की जा चुकी हैं।

वर्ष 1985-1993 के दौरान कृषि के क्षेत्र में एक और बड़ी महत्वपूर्ण उपलब्धि है तिलहनी फसलों का दोगुना उत्पादन। इससे जहां एक ओर खाद्य तेलों के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता आई है और प्रतिवर्ष तेलों के आयात पर खर्च होने वाले 1500-3000 करोड़ रुपए की बचत हुयी है वहीं खाद्य, कन्फेक्शनरी में उपयोगी और औद्योगिक तेलों के निर्यात से भारी मुनाफा भी हो है। कपास की खेती में क्षेत्रफल की दृष्टि से तो 30 प्रतिशत की वृद्धि हुयी है लेकिन उत्पादन चार गुना बढ़ा है। इसका अनुमान विदेश को कपड़े के निर्यात से होने वाली आय से भली भांति लगाया जा सकता है जो लगभग 25,000 करोड़ रुपए सालाना है। कुछ ऐसी ही स्थिति चीनी की भी है। भारत आज विश्व का सबसे बड़ा चीनी उत्पादक देश है और यहां से प्रतिवर्ष 20-30 लाख टन चीनी का निर्यात किया जाता है। इसी प्रकार ज्वार, मक्का, बाजरा और दलहनी फसलों के उत्पादन में भी वृद्धि हुयी है।

बागवानी फसलें

फलों, सब्जियों और आलंकारिक फसलों पर विधिवत अनुसंधान, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में वर्ष 1954 में आरंभ हुआ। बंगलौर में भारतीय बागवानी अनुसंधान संस्थान की स्थापना को इस दिशा में मील का पत्थर कहा जा सकता है। समन्वित प्रयासों के फलस्वरूप फलों की उपज लगभग दोगुनी हो चुकी है। जो उत्पादन क्षमता पहले 5 52 टन/हे
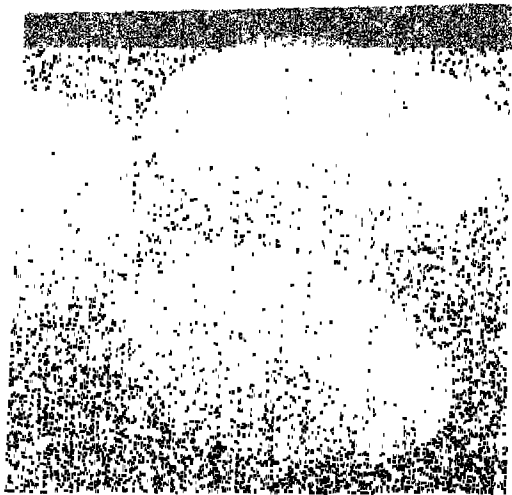
58 - इसके फल बड़े, अधिक पीले, लालिमा लिए तथा अच्छे गुण वाले होते हैं

28 टन/हे. हो चुकी है। वर्ष 1961 में फलों लाख हेक्टेयर में की जा रही थी वह बढ़ कर 33.2 लाख हेक्टेयर में हो चुकी है 2 प्रतिशत है।
भी विश्व का सबसे अधिक आम उगाने वाला अनेक अधिक उपज देने वाली संकर किस्में आम्रपाली, रत्ना, अर्क सुनीत और नीलकमल चुकी हैं। भारत केले का भी सबसे बडा

ब्जियों की बात है, उत्पादन की दृष्टि से भारत के बाद दूसरा है। अनेक अधिक उपज देने अतिरिक्त विभिन्न जलवायविक परिस्थितियों के मय में उपज देने वाली और बीजों की उन्नत को पूरा करने के लिए उपयुक्त किस्मों का

विकास किया जा चुका है। अब तक 24 प्रकार की सब्जियों की 160 उन्नत किस्मों को विभिन्न क्षेत्रों में रिलीज करने के लिए अभिलिखित किया जा चुका है।

पादप आनुवंशिक स्रोत

किसी भी फसल को बेहतर बनाने संबंधी कार्यक्रम तभी सफल हो सकते हैं जब कि किसानों के पास आनुवंशिक विविधता उपलब्ध हो। भारत में पाई जाने वाली प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण के लिए 1976 में राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक ससाधन ब्यूरो की स्थापना की गई। स्वदेशी और विदेशी दोनों ही तरह के जर्मप्लाज्म के संग्रहण, परिरक्षण, अभिलक्षणन और अभिलेखन का दायित्व राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो का है जिसने 18 नवम्बर 1996 को बीजों, वानस्पतिक भ्रूणों एवं युग्मकों के रूप में जर्मप्लाज्म संरक्षण के लिए राष्ट्रीय जीन बैंक की स्थापना की।

जीन बैंक में स्थित भंडार कक्षों में 1986-90 तक मौजूद जातियों के बीजों को लंबे समय तक सुरक्षित रखने के लिए संग्रहित किया गया है। इनके अतिरिक्त कायिक प्रवर्धन द्वारा तैयार पौधों के क्लोनीस पदार्थ तथा प्राकृतिक किस्मों को अत:पात्रे, क्रायोजेनिक एवं खेतों जैसी परिस्थितियों में संरक्षित किया जाता है। यहां स्थापित जीन बैंक में 20 विभिन्न फसलों के 1,30,000 नमूने मौजूद हैं।

जैवप्रौद्योगिकी

आज कृषि में जैव प्रौद्योगिकी के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। जैवप्रौद्योगिकी के महत्व को समझते हुए ही 1982 में जैवप्रौद्योगिकी विभाग के अन्तर्गत राष्ट्रीय जैवप्रौद्योगिकी बोर्ड की स्थापना की गयी थी। अनेक प्रमुख फसलों की ट्रांस्जेनिक

ी ओर

किस्में जैवप्रौद्योगिकी की ही देन हैं। अधिक उपज
किस्मों के विकास के अतिरिक्त कीटरोधी और रोग
ह्स्में विकसित करने की दिशा में भी प्रयास जारी
नेक उर्वरकों के स्थान पर जैव उर्वरकों के उपयोग
पर जोर दिया जा रहा है। यह जैवउर्वरक भी
। की ही देन है। इसके अलावा ऊतक संवर्धन द्वारा
रकंद, लहसुन, नीबू, अदरक, अन्ननास, मिर्च,
ल्दी, और अनेक औषधीय पौधे जैसे कि सर्पगंधा
ल आदि की उपज बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे
एनर्जी रिसर्च इन्स्टीट्यूट और दिल्ली विश्व विद्यालय
के कुछ ट्रांस्जेनिक अनुक्रम विकसित किए हैं। इतना
भ्रूण प्रत्यारोपण तकनीक द्वारा गाय और भैंस की
देने वाली नस्लें पैदा की गयी हैं जो नेशनल डेयरी
टीट्यूट, करनाल और नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ

ट्रान्सजेनिक बछड़े

इम्म्यूनोलॉजी, नई दिल्ली के मिले जुले प्रयासों का फल है। अब तक इस विधि से 500 गाएं पैदा की जा चुकी हैं।

एक्वाकल्चर या जल कृषि

एक्वाकल्चर, जलकृषि या जलजीव पालन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी जलीय परिवेश को समुचित उपचारों के बाद जलजीवों के अनुरूप बना कर मछली, झींगा आदि जलजीवों को पाला जाता है। आज एक्वाकल्चर का स्वरूप बिल्कुल बदल गया है और इसके अन्तर्गत झींगा, केकड़ा, लोब्सटर, मेढ़क, सीपी आदि का पालन होता है। इससे एक ओर जहां गांवों में बेरोजगारों को रोजगार के अवसर प्राप्त हो रहे हैं वहीं दूसरी ओर यह बेशुमार उत्पादन क्षमता के कारण एक बेहतरीन व्यवसाय के रूप में भी लोकप्रिय हो रहा है।

वैज्ञानिकों ने एक्वाकल्चर के लिए अनेक नवीन तकनीकों का विकास किया है। इन नवीन तकनीकों में प्रमुख हैं: मीठे पानी मे कार्प मछलियों का मिश्रित पालन, बीज उत्पादन हेतु कार्प मछलियों की हैचरी तकनीक, मांगुर पालन, मरेल पालन, झींगा पालन, बीज उत्पादन हेतु झींगों की हैचरी तकनीक, एक्वाकल्चर के साथ कृषि एवं पशुपालनकी समन्वित प्रणाली, मलजल में एक्वाकल्चर मोती पालन तथा सजावटी मछलियों का पालन। खारे पानी में एक्वाकल्चर की तकनीकें हैं: झींगों और मछलियों का मिश्रित पालन तथा केकड़ा पालन। समुद्र में एक्वाकल्चर करने के लिए पिंजरों एवं बाड़ों का प्रयोग किया जा सकता है। इनके अलावा खाने योग्य सीपियों अर्थात् ओइस्टर का पालन, मोती सीपियों अर्थात् पर्ल ओइस्टर का पालन, क्लैम कल्चर, मसेल कल्चर, सजावटी मछलियों एवं शंखों का पालन तथा समुद्री शैवाल की खेती की जा रही है।

अन्य देशों की तुलना में भारत में एक्वाकल्चर के लिए अधिक उपयुक्त संसाधन मौजूद हैं लेकिन यहां इन संसाधनों

बड़े ताजा जल झींगों का ढेर

का सही उपयोग नहीं हो रहा है जैसे कि खारे पानी एक्वाकल्चर के लिए उपलब्ध 12 लाख हेक्टेयर जलक्षेत्र में मात्र 65 हजार हेक्टेयर जलक्षेत्र का ही उपयोग हो रहा यही स्थिति मीठे पानी में एक्वाकल्चर की भी है। लेकिन इत अवश्य स्पष्ट है कि यदि इस ओर समुचित ध्यान दिया ज तो भारत में एक्वाकल्चर व्यवसाय का भविष्य उज्जवल है।

आज के लिए और भविष्य के लिए प्राकृतिक स्रोतो सुरक्षा सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है। इस मिशन में वैज्ञानिको विनाश और संरक्षण की विपरीत प्रक्रियाओं के बीच संतुल बना कर काम करना होगा। इसके लिए आनुवंशिक स्रोतों अन्वेषण, संग्रहण, संरक्षण, मूल्यांकन और उपयोग के लि सहायक विधियां विकसित करनी होंगी। इस प्रकार पर्यावर सुरक्षा, स्रोतों को संरक्षण और युक्तिसंगत उपयोग, अनुसंध और विकासात्मक प्रक्रियाओं का मुख्य भाग होगा।

विकास की प्रक्रिया में, जैसे जैसे हम इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रहे हैं, विकास की प्रत्येक अवस्था में आर्थिक प्रयोजन को ध्यान में रखना होगा। आने वाले वर्षों में, कृषि को निश्चित रूप से पारिस्थितिकी, जलवायविक, आर्थिक, निष्पक्षता, सामाजिक न्याय, ऊर्जा, और रोजगार जैसी सीमाओं पर चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। यद्यपि, खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता, भूख और खपत के बीच असमानता के दूर होने, समाज के सभी वर्ग के लोगों को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों का मिलना और कृषि एवं संसाधित उत्पादों के निर्यात में बढ़ोतरी एवं आयात में कमी द्वारा परिवर्तन के प्रभाव को स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

भारत उन देशों में से है जहां कृषि उत्पादन में वृद्धि, यद्द खाद्यान्न की बढ़ती मांग के अनुरूप है, भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का दावा नहीं किया जा सकता। इसलिए खाद्य की पर्याप्त उपलब्धता के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए हमें प्रतिवर्ष 70 लाख टन की दर से उत्पादन बढाना होगा।

भारत में अभी भी ऐसे बहुत से अज्ञात आनुवंशिक स्रोत और उपयुक्त तकनीकें हैं जिनकी प्रभाविता का हमें पता नहीं है। यदि हम छठे दशक में हरित क्रांति ला सकते हैं जबकि हमारी अवसंरचना इतनी विकसित नहीं थी, तो आज जब हम कृषि विज्ञान में इतनी प्रगति कर चुके हैं, ऐसा कर पाना असंभव नहीं लगता।

कोशिका में कारीगरी

जैवप्रौद्योगिकी है कोशिका में कारीगरी। जैवप्रौद्योगिकी उस समय भी एक वास्तविकता थी जब उसे विधिवत कोई नाम नहीं दिया गया था। राजा महाराजा जिस मदिरा का पान करते थे वह अंगूरों को किण्वित कर बनायी जाती थी लेकिन तब इसे जैवप्रौद्योगिकी का नाम नहीं मिला था। यह नाम तो इस युग में दिया गया है। यह नवनामित क्षेत्र जीव विज्ञान और प्रौद्योगिकी का ऐसा संगम है जिससे जीव कोशिकाओं को प्रयोगशालाओं में बनाना संभव हुआ। समय के साथ साथ जैवप्रौद्योगिकी के सदुपयोग से बहुत कुछ संभव हुआ लेकिन इसके दुरूपयोग का भय अब भी लोगों के मन में बैठा हुआ है।

यद्यपि जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनुसंधानों का प्रारम्भ विदेशों से ही हुआ लेकिन पिछले कुछ दशकों से भारत में भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। यहां भी कृषि और चिकित्सा जैसे कई प्रमुख क्षेत्रों में जैवप्रौद्योगिकीय प्रक्रियाओं का उपयोग सफलतापूर्वक किया जा रहा है। जैवप्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ही केन्द्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मन्त्रालय, भारत सरकार के अन्तर्गत जैवप्रौद्योगिकी विभाग की स्थापना की गयी जिसने विभिन्न क्षेत्रों में जैवप्रौद्योगिकीय अनुसंधानों को आगे बढ़ाने के लिए कई कारगर कदम उठाए। जैवप्रौद्योगिकी विभाग ने जैवप्रौद्योगिकी की उच्च शिक्षा देने और अनुसंधान संबंधी सुविधाएं जुटाने के लिए भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद,

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान विभाग जैसी सरकारी संस्थाओं के सहयोग से विश्वविद्यालयों में पर्याप्त सुविधाएं प्रदान की। इसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों के उद्योगों को जैवप्रौद्योगिकी प्रयोगशालाओं से जोड़ कर एक नए अध्याय का आरंभ किया। इतना ही नहीं बल्कि जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए नवीनतम अनुसंधानों की जानकारी लोगों तक पहुंचाने के लिए प्रदर्शन इकाइयों की भी स्थापना की।

आज काफी बड़ी मात्रा में जैवप्रौद्योगिकीय उत्पादों का उपयोग किया जा रहा है जिनमें से अधिकांश का उत्पादन स्वदेश में ही किया जा रहा है। इन उत्पादों में मानव और पशु दोनों के स्वास्थ्य के लिए टीकों, नैदानिक प्रतिजैविकों, पुनर्योगज उत्पादों सहित जैविक रूप से सक्रिय प्रोटीन, कृत्रिम रक्त तथा अन्य औषधियां प्रमुख हैं। कृषि के क्षेत्र में उच्च पैदावार वाले संकर बीज, ऊतक संवर्धन द्वारा विकसित पौधे, जैवउर्वरक, जैवकीटनाशी तथा मवेशियों की नस्लों में आनुवंशिक सुधार शामिल है। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादों में एल्कोहल, ऑर्गेनिक अम्ल, एंजाइम, अमीनो अम्ल तथा सूक्ष्मजैविक रेनेट द्वारा बना पनीर आदि उत्पाद आते हैं। अन्य जैवप्रौद्योगिकीय अनुप्रयोगों में बहिस्राव प्रबंधन, कम्पोस्टिंग सम्मिश्र, वन जैवप्रौद्योगिकी, ओलिगोन्यूक्लियोटाइड का संश्लेषण, एन्डोन्यूक्लिऐस एवं जेल पॉलीमर संश्लेषण तथा जैवप्रौद्योगिकी अनुसंधान एवं उद्योग में प्रयुक्त उत्पादों का उत्पादन शामिल है।

कृषि के क्षेत्र में जैवप्रौद्योगिकी का योगदान

पारम्परिक तकनीकों के साथ जैवप्रौद्योगिकीय निवेश से और कृषि उत्पादो का निर्यात निश्चित रूप से

जैवप्रौद्योगिकी की देन - कीटरोधी चावल

ाया जा सकता है। इसी तथ्य के आधार पर
ों में प्रमुख फसलों के अनुसंधानएवं विकास पर
ध्यान दिया गया है। इस दिशा में छः प्रमुख पाद
त्रविज्ञान केन्द्रों ने विशेष रूप से सहयोग दिया
तिरिक्त 1993-95 में ट्रांस्जेनिक कपास और
ुवत्ता के सुधार के लिए दो परियोजनाएं आरम्भ
प्रमुख खाद्यान्न फसलों की अधिक उपज देने
में निकाली गयी हैं जिससे खाद्यान्न की बढ़ती म
गा जा सके। जैवप्रौद्योगिकी की सहायता से उपज
थ साथ फसलों को नाशक कीटों और बीमारियों
प्रयास भी किए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त
ादप जातियों, औषधीय पौधों या जिन पादप
मता से प्रवर्धित नहीं किया जा सकता उन्हे आद

अनुसंधान के लिए उपयोगी पौधे उपलब्ध कराने
बैंक स्थापित किए गए हैं।

संवर्धन

रूप से कोशिकाएं, ऊतक आदि उगाने की तक
संवर्धन। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय वैज्ञानिकों
रियल, तम्बाकू, ग्लेडिओलस, चंदन, और सिट्रस
शाला में सफलतापूर्वक संवर्धित किया है। आज
गभग 44 अनुसंधान संस्थान तथा विश्वविद्यालय उ
। विभिन्न तकनीकों पर काम कर रहे हैं। दिल्ली

विश्वविद्यालय एन्डोस्र्पम, भ्रूण, अंडाणुओं, और पुंकेसर संवर्धन पर किए गए कार्य के लिए दुनिया भर में जाना जाता है। कई प्रयोगशालाओं में क्लोनल प्रवर्धन पर काम हो रहा है। राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पुणे में टीक और यूकेलिप्टस के बहुगुणन की तकनीकें विकसित की गयी हैं।

पादप प्रजातियों विशेष रूप से संकटग्रस्त जातियों के उत्पादन के लिए पादप ऊतक संवर्धन तकनीकों का व्यापक रूप से प्रयोग किया जा रहा है। कुछ समय से ऊतक संवर्धन को विशेष क्लोनों के तेजी से बहुगुणन की तकनीक के रूप मे जाना जाता है। पहले तो इसका उपयोग फूलों, कंदों, फल पादप प्रजातियों के बहुगुणन के लिए किया जा रहा था लेकिन अब वन जातियों के लिए भी इसका उपयोग किया जा रहा है। आज देश में दो जगह ऐसी सुविधाएं उपलब्ध हैं जहां इस दिशा में बड़े पैमाने पर काम हो रहा है। एक तो है हरियाणा गोल पहाड़ी स्थित टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान का टिशू कल्चर पायलट प्लांट और दूसरी है पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला। इनके अतिरिक्त लगभग 50 निजी कम्पनियां पहले से ही आलंकारिक पौधों पर काम कर रही हैं।

जैवप्रौद्योगिकी विभाग द्वारा प्रायोजित टेरी का टिशू कल्चर पायलट प्लांट 1989 में अस्तित्व में आया और यहां वैज्ञानिकों द्वारा विकसित ऊतक संवर्धन प्रक्रियाओं को ऐसी जांची परखी मूलप्रतियों में बदलने का कार्य किया जा रहा है जिसे बाद मे बाजार में रिलीज किया जाएगा। यहां प्रतिवर्ष दस लाख पौधे उत्पन्न किए जा रहे हैं। यद्यपि इसकी पूरी क्षमता का अभी लाभ नहीं उठाया गया है। अभी ऊतक संवर्धन प्रक्रिया मुख्यतः सजावटी तथा आलंकारिक पादपों के उत्पादन पर ही केन्द्रित है, विश्व बाजार में इनकी काफी मांग है। स्थानीय बाजार में भी इनकी खपत तेजी से बढी है।

जैवकीटनाशी

जब से लोगों में पर्यावरण के प्रति चेतना जाग्रत हुयी है, तब से रासायनिक कीटनाशकों के स्थान पर जैव कीटनाशियों के प्रयोग पर जोर दिया जा रहा है। रासायनिक कीटनाशकों से न केवल पर्यावरण प्रदूषित होता है बल्कि ये रसायन हमारे स्वास्थ्य को भी हानि पहुंचाते हैं। जबकि जैवकीटनाशी हर दृष्टि से सुरक्षित होते हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए जैवप्रौद्योगिकी विभाग ने मार्च 1989 ने अनेक कृषि विश्वविद्यालयों में कई अनुसंधान परियोजनाएं आरम्भ करायी ताकि ऐसे जीवाणु और विषाणु खोजे जा सकें जो फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले नाशक कीटों को नियंत्रित या नष्ट कर सकें।

इन परियोजनाओं के अन्तर्गत फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कई प्रमुख नाशक कीटों को नियंत्रित करने वाले जैवनाशी खोजे जा चुके हैं। जैसे कि कॉटन बॉल वर्म और तम्बाकू कैटरपिलर आदि नाशककीटों को नियंत्रित करने के लिए न्यूक्लियर पॉलिहाइड्रॉसिस विषाणु बनाने एवं बड़ी मात्रा में इनके उत्पादन की विधि को मानकीकृत किया जा चुका है।

इसी प्रकार गन्ने के प्ररोह बेधक को नियंत्रित करने के लिए एक अन्य विषाणु ग्रेनुलॉसिस विषाणु का प्रयोग किया जाने लगा है। एफिड, सफेद मक्खियों और बॉल वर्म को नियंत्रित करने के लिए क्राइसोपा, लेपिडॉप्टेरा कीटों के लिए ट्राइकोग्रामा का, गलन और विगलन को नियंत्रित करने के लिए ट्रिटोडर्मा और ग्लाइडलेडियम का प्रयोग किया जाता है। अब तक लगभग 11,000 हेक्टेयर क्षेत्र में कपास, गन्ने, तमबाकू, टमाटर, चिक-पी, मूंगफली, अरहर, सूर्यमुखी और फूलगोभी आदि की फसलों पर कीट नियंत्रण के लिए इनका सफल क्षेत्र परीक्षण किया जा चुका है। इनके परिणामों से उत्साहित होकर भारत सरकार ने जैवनियंत्रकों का बडे पैमाने पर उत्पादन बढाने के

लिए अनेक उत्पादन इकाइयां स्थापित करने का निर्णय लिया है। इतना ही नहीं इनके उपयोग को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने के लिए, इनके प्रचार पर भी जोर दिया जा रहा है। इसके अन्तर्गत किसानों को इनके उपयोग से संबंधित प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था है।

फसलों के अतिरिक्त, मच्छरों और पीड़कों को नियंत्रित करने के लिए भी परियोजनाएं आरम्भ की गयी हैं। इनके अन्तर्गत *बैसिलस स्फेरीकस* और *बैसिलस थूरीन्जिएन्सिस* जैसे जीवाणुओं पर अनुसंधान कार्य प्रगति पर है। इनके विकास से मानव जाति को, मच्छरों के कारण फैलने वाले अनेक रोगों से मुक्ति दिलाना संभव हो सकेगा।

जैवउर्वरक

खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए सदैव उर्वरकों का प्रयोग किया जाता रहा है। जब प्राकृतिक उर्वरक कम्म पड़ने लगे तो रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग आरंभ हुआ। लेकिन जल्दी ही लोगों को यह समझ में आने लगा कि रासायनिक उर्वरक खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने में भले ही सहायक हों, कुछ समय बाद भूमि के उपजाऊपन को कम करने लगते हैं। तब इसका एक ही विकल्प दिखाई दिया, वह था जैवउर्वरकों का प्रयोग। विशेष रूप से विकासशील देशों में इनका प्रयोग महत्वपूर्ण होता जा रहा है। कई दशकों से भारत में राइजोबियम और नील हरित शैवाल का प्रयोग जैव उर्वरकों के रूप में होता है। संबंधित लोगों तक इनकी जानकारी पहुंचाने के लिए सत्रह केन्द्रों पर 'टेक्नोलॉजी डिवेलपमेंट एण्ड डिमॉन्सट्रेशन ऑफ बायोफर्टिलाइजर्स - ब्लू ग्रीन एल्गी (एजोला) और राइजोबियम' नामक बहुउद्देशीय परियोजना आरम्भ की गयी है। इसके अतिरिक्त, नील हरित शैवाल, राइजोबियम, और

माइकोराइजा से संबंधित अनुसंधान एवं विकास परियोजना को सहयोग दिया जा रहा है।

आज राइजोबियम का उत्पादन लगभग 1000 टन तक पहुंच गया है। यद्यपि इसका उपयोग अभी भी अपेक्षित स्तर से कम है। इसलिए जैवप्रौद्योगिक विभाग और कृषि मंत्रालय इसका उपयोग बढ़ाए जाने की दिशा में भी प्रयासरत हैं। आशा है कि इन प्रयासों के फलस्वरूप आगामी 5 से 8 वर्षों में राइजोबियम उर्वरकों की खपत 8,000 से 10,000 टन प्रतिवर्ष तक बढ़ायी जा सकेगी। जैव उर्वरकों का उत्पादन बढ़ाने के लिए कई कृषि अनुसंधान संस्थानों में कार्य प्रगति पर है। जैवप्रौद्योगिकी विभाग ने मुख्यतः चावल की खेती में प्रयोग होने वाली नील हरित शैवाल के भी कई संवर्ध तैयार किए हैं। इनका क्षेत्र परीक्षण होना अभी शेष है। इनके उत्पादन के लिए 400 से भी अधिक उत्पादन इकाइयां स्थापित की गयी हैं। अनुमान है कि इन जैवउर्वरकों के प्रयोग से चावल की उपज को 7 से 9 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकेगा। जैवउर्वरकों को लोकप्रिय बनाने और इनके उपयोग को बढ़ाने के लिए देश के विभिन्न भागों में समय समय पर प्रदर्शन आयोजित किए जाते रहे हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में जैवप्रौद्योगिकी का योगदान

जैवप्रौद्योगिकी केवल कृषि के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि चिकित्सा के क्षेत्र में भी उतनी ही उपयोगी है। आज विभिन्न प्रकार के वैक्सीन, इम्म्यूनोडायग्नॉस्टिक, प्रमुख आनुवंशिक रोगों के लिए डी एन ए प्रोब विकसित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। आशा है कि जैवप्रौद्योगिकी की सहायता से एक दिन कैंसर और एड्स जैसे आज के लाइलाज रोगों पर भी नियंत्रण प्राप्त करना संभव हो सकेगा। आज जैवप्रौद्योगिकी की सहायता
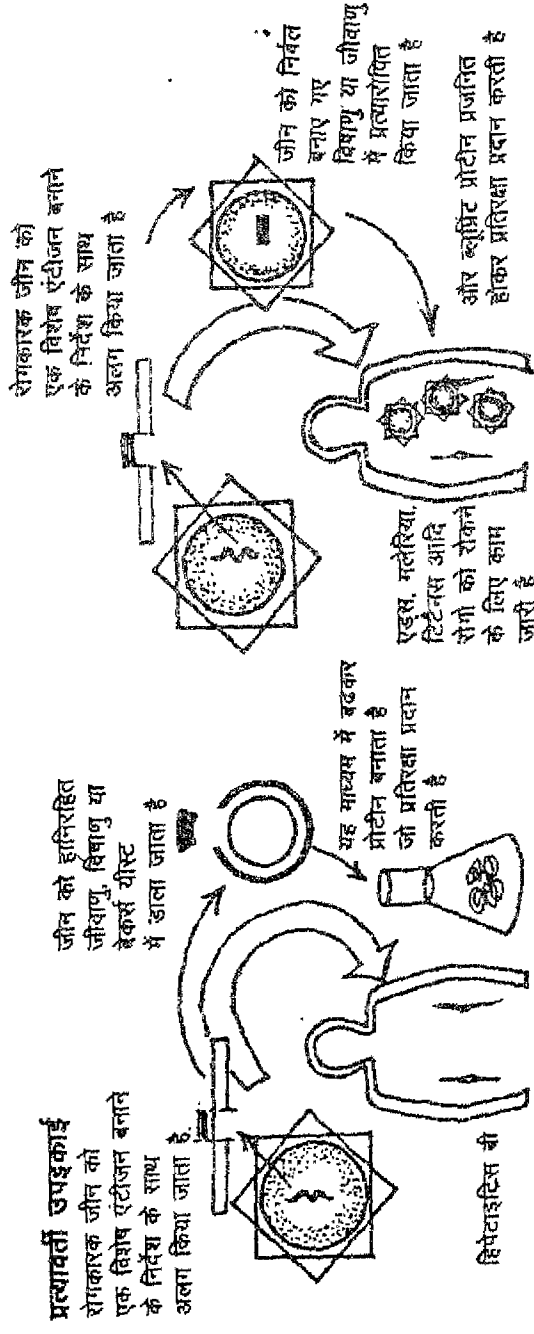
वैक्सीन बनाने की नई तकनीक

ों के टीके बनाने, प्रोटीन और प्रतिजैवि
ता है।

रक्षण कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य 230 लाख
ों को प्रतिरक्षा प्रदान करना है। इसके अन्तर्गत
न, डिफ्थीरिया, पर्टुसिस, बी सी जी तथा खसरे
उत्पादन के लिए देश में प्रचुर क्षमताओं का
है। इन्स्टीट्यूट ऑफ माइक्रोबियल टेक्नोलॉजी,
की वैक्सीन के लिए एक आविषालु *विब्रिओ*
विकसित किया गया है जिससे हैजे के नियंत्रण
गी। संक्रामक रोगों के निदान के लिए, ऑल
ट ऑफ मेडीकल साइंसेज न्यू दिल्ली में,
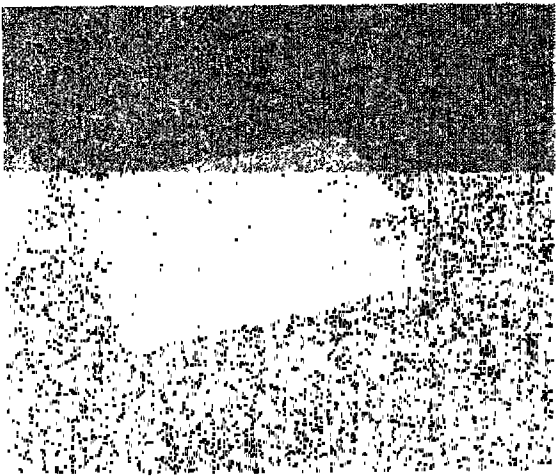
ऑप्टिकल बायोसेंसर का प्रोटोटाइप

म्यूराइन मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज बनायी गयी हैं। इनके अतिरिक्त भेड़ के मस्तिष्क से विकसित रेबीज के टीके, पीत ज्वर के टीके, जापानी एन्सिफेलाइटिस के टीके, हैजे और टायफॉयड के टीके अब देश में ही बनाए जा रहे हैं। ड्यूक्ने मस्कुलर डिस्ट्राफी के आण्विक निदान के लिए छः पी सी आर आधारित किटें विकसित की जा चुकी हैं। HIV-I और HIV-II संक्रमणों के विलगन के लिए प्रतिरक्षी नैदानिक किट विकसित किए गए हैं। इतना ही नहीं मवेशियों में होने वाले रोग इन्फैक्शियस बोवाइन राइनोट्रेकीटिस और कुक्कुटों को होने वाले रानीखेत के लिए विकसित वैक्सीनों को बाजार में रिलीज किया जा चुका है।

यद्यपि अभी बहुत से टीके ऐसे हैं जिनको हमें आयात करना पड़ रहा है जैसे मानव प्लाज्मा से निर्मित हिपेटाइटिस बी, रेबीज, खसरा, गलसुआ, रूबेला और इन्फलुएंजा के टीके। प्रतिवर्ष लगभग 50,000 से 4,00,000 टीके आयात किए जा रहे हैं।

जैवसक्रिय प्रोटीन

आज अनेक मानवोपयोगी पुनर्योगज उत्पाद जैसे इन्सुलिन, इटरफेरान, वृद्धि हारमोन, स्ट्रेप्टोकाइनेज, एरिथ्रोपोयटिन आदि विश्व बाजार में उपलब्ध हैं। अभी इनमें से किसी भी उत्पाद का उत्पादन हमारे देश में नहीं हो रहा है बल्कि उन्हें आयात ही करना पड़ता है। लेकिन अब इनका स्वदेश में ही उत्पादन आरंभ करने के उद्देश्य से अनुसंधान एवं विकास कार्य आरंभ किए गए हैं। लेकिन इसमें अभी कई वर्ष लग जाएंगे।

प्रतिजैविक

प्रतिजैविक उत्पादन के क्षेत्र में भारत ने काफी प्रगति की है। इस समय देश में लगभग 30 बल्क जैविकों की खपत हो

रही है। अब तक देश में पेन्सिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, एरिथ्रोमायसिन, टेट्रासाइक्लिन, ऑक्सीट्रेटासायक्लिन, क्लोरोटेट्रासायक्लिन, एम्पीसिलिन, एमॉक्सीसिलिन, क्लोक्सोसिलिन, सेफालेक्सिन और जेन्टामायसिन बनाने के संयंत्र स्थापित किए जा चुके हैं। रिफाम्पिसिन और क्लोरोफेनीकॉल जैसे कुछ प्रतिजैविकों के उत्पादन के लिए आवश्यक पदार्थ आयात किए जा रहे हैं। किण्वन द्वारा रिफाम्पिसिन के उत्पादन के लिए दो संयत्र लगाए गए हैं।

पेट्रोलियम जैवप्रौद्योगिकी

जैवप्रौद्योगिकी विभाग ने 1991-92 में एक द्विपक्षीय परियोजना आरंभ की थी जिसके अन्तर्गत एक पक्ष में सूक्ष्मजीवों द्वारा तेल की उपलब्धि बढ़ाना और दूसरे के अन्तर्गत सूक्ष्मजीवों द्वारा तेल का अपक्षीणन किया जाना था। अब तक विभिन्न स्थानों पर कच्चे तेल के प्रभावी अपक्षीणन के लिए विभिन्न जीवाण्विक संघ अभिकल्पित किए जा चुके हैं।

वर्षों से मानव प्राकृतिक स्रोतों के दोहन के लिए जैविक प्रक्रियाओं का विकास करता रहा है और अब उसने कृषि, चिकित्सा और उद्योग के क्षेत्र में समस्याओं को सुलझाने के लिए कोशिका में कारीगरी करना आरम्भ कर दिया है। कुछ सुविधाओं के अभाव में प्रगति की दर अभी कुछ धीमी अवश्य है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए नए अनुसंधान केवल भारत ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

ऊर्जा: जीवन की मूलभूत आवश्यकता

मनुष्य आदिकाल से ही अपने कार्यों को सुगमता से सम्पादित करने के लिए ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों की खोज करता आया है। लगभग 500,000 ईसा पूर्व, पत्थर की रगड़ से चिंगारी उत्पन्न कर आदि मानव ने आग की खोज की। इसके पहले वह ऊर्जा के रूप में केवल अपनी सामर्थ्य और शक्ति पर ही निर्भर था। आग की खोज के साथ ही उसके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। आग से उसे एक नयी ऊर्जा का अहसास हुआ और उसने लकड़ी जलाकर, खाना पकाना आरंभ किया। सभ्यता की ओर यह उसका पहला कदम था। इसके बाद उसने बर्तन बनाना सीखा। लगभग 3200 ईसा पूर्व के आस पास उसने पवन ऊर्जा द्वारा नावों को खेना सीखा। इसके बाद तो प्रगति का एक सिलसिला ही चल पड़ा। विकास का एक महत्वपूर्ण मोड़ था वाष्प इंजन की खोज। एक तरह से यह औद्योगिक क्रांति की नींव का पत्थर सिद्ध हुआ।

मानव ने विभिन्न कामों के लिए ऊर्जा उत्पन्न करने के बहुत से तरीके खोजे। उसने जल में निहित ऊर्जा को विद्युत ऊर्जा में बदला। उसने इस विद्युत ऊर्जा को रेडियो तरंगों में बदल डाला जो हजारों किलोमीटर दूर उसके संदेश लेकर जा सकती हैं। वाहनों को चलाने के लिए उसने गैसोलिन को जलाकर ऊर्जा उत्पन्न की। जल को वाष्प में बदलने के लिए कोयला जलाया गया और इस जल वाष्प से विद्युत ऊर्जा

उत्पन्न की गयी। कुछ तत्वों के परमाणुओं के केन्द्रकों में इतनी अधिक ऊर्जा होती है, जितनी कि हजारों टन पदार्थ जला कर भी प्राप्त कर पाना शायद संभव नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि दिन पर दिन विकास की इस दौड़ में ऊर्जा की आवश्यकता निरंतर बढ़ती गयी बल्कि देश के आर्थिक विकास और लोगों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए ऊर्जा, भोजन के बाद दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता बन गयी। किसी भी देश की तरक्की और खुशहाली का अनुमान उस देश में ऊर्जा की खपत और उत्पादन के आंकड़ों से लगाया जा सकता है।

मनुष्य के आविर्भाव से लेकर विकास की लंबी यात्रा के हर दौर में ऊर्जा की आवश्यकता बढ़ती गयी। ऊर्जा के संदर्भ में इस यात्रा का मुख्य पड़ाव सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को माना जा सकता है। यह समय औद्योगिक क्रांति का युग था। इस दौरान ऊर्जा की खपत तेजी से बढ़ी। इसका कारण था कि मनुष्य अब केवल स्वयं अपनी शक्ति पर ही निर्भर नहीं था। उसने बहुत से कामों के लिए मशीनें ईजाद कर ली थी और इन्हें संचालित करने के लिए ऊर्जा की जरूरत थी।

यह मशीनीकरण जेम्स वाट द्वारा बनाए गए भाप के इंजन की देन था। इसी के साथ साथ हुआ विद्युतीकरण जिससे ऊर्जा की कमी को पूरा किया गया। जब ऊर्जा के ये असीम भंडार समाप्त होने के कगार पर आ गए हैं और आज स्थिति यह है कि ऊर्जा प्राप्ति के साधनों की कमी मनुष्य की प्रगति पर भी प्रश्न चिन्ह लगाने लगी है। यही कारण था कि जब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, देश के चंहुदिश विकास के कार्यक्रम की योजनाएं बनी तो उसमें ऊर्जा उत्पादन संबंधी कार्यक्रम को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

कुछ नए विकल्प

वास्तव में वैकल्पिक या गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोत प्रकृति की ऐसी देन हैं जो हमें ऊर्जा संकट से उभारने में सहायक हो

सकते हैं। ये ऊर्जा की बढ़ती हुयी आवश्यकता को तो पूरा करने में सक्षम हैं ही साथ ही पर्यावरण को भी नष्ट होने से बचाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। आजकल जिन वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों पर विशेष रूप से काम चल रहा है, वे हैं सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, संलयन ऊर्जा, बायोगैस, भू-तापीय ऊर्जा, समुद्री लहरों से प्राप्त ऊर्जा आदि।

पवन ऊर्जा

पवन का ऊर्जा के लिए उपयोग आज से नहीं बल्कि सदियों से होता रहा है। लगभग 5,000 साल पहले प्राचीन मिस्त्र में पवन ऊर्जा का उपयोग नील नदी में छोटे जहाज चलाने के लिए किया जाता था। इसके बाद लोगों ने अनाज पीसने के लिए पवन चक्कियों का उपयोग करना आरम्भ किया। सबसे प्राचीनतम पवन चक्कियां आज के ईरान और उस समय के फारस में मिलती हैं। अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत के रूप में तो

सारणी 1

भारत में परिवर्तनीय ऊर्जा प्रौद्योगिकी की औसत क्षमता

स्रोत/संयंत्र	औसत क्षमता
बायोगैस संयंत्र (संख्या)	120 लाख
उन्नत चूल्हे (संख्या)	1200 लाख
बायोमास	17,000 मेगावाट
सौर ऊर्जा	20 मेगावाट/वर्गकिमी
पवन ऊर्जा	20,000 मेगावाट
लघु जल संयंत्र	10,000 मेगावाट
सागरीय ऊर्जा	50.000 मेगावाट

पवन चक्कियों का महत्व रहा ही है, आज भी जब ऊर्जा की खपत को पूरा करने के लिए ऊर्जा के परिवर्तनीय स्रोतों की बात होती है तब भी पवन ऊर्जा का नाम सबसे पहले आता है। इसकी एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है - पर्यावरण के अनुकूल होना। भारत सहित अनेक देशों में इस दिशा में लगातार प्रयास किए जा रहे हैं। बड़े पैमाने पर उपयोग के लिए पवन ऊर्जा का उत्पादन अपेक्षाकृत कम कीमत पर हो किया जा सकता है। कृषि, विद्युत उत्पादन और घरेलू कामों में पवन ऊर्जा का उपयोग काफी तेजी से बढ़ा है। सातवीं पचवर्षीय योजना के दौरान भारत में पवन ऊर्जा शक्ति के विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और आज भारत की पवन ऊर्जा उत्पादन क्षमता लगभग 20,000 मेगावाट है।

पवन ऊर्जा के उपयोग में सबसे पहला चरण वातग्रस्त क्षेत्रों का पता लगाना था जिससे अधिक से अधिक पवन ऊर्जा का दोहन किया जा सके। इसके लिए वर्ष 1985 में अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय ने बंगलौर स्थित इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ ट्रॉपिकल मीटिओरोलॉजी के साथ मिल कर एक पवन सर्वेक्षण कार्यक्रम आरंभ किया। इसके अन्तर्गत भारत के राज्यों और संघ प्रदेशों में पवन मॉनीटरिंग, मैपिंग और जटिल भू प्रदेश परियोजनाएं आरम्भ की गयी। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत एकत्रित किए गए आंकड़ों के आधार पर तमिलनाडु में 18, गुजरात में 11, आंध्र प्रदेश में 8, कर्नाटक में 8, केरल मे 5, महाराष्ट्र में 3 और लक्षद्वीप में 1 उच्च पवन वाले क्षेत्रो को पवन ऊर्जा उत्पादन के योग्य चुना गया। यहां वायु की वार्षिक गति दर 18 किलोमीटर प्रति घंटे से भी अधिक पायी गयी। भारत में पवन की कुल अनुमानित ऊर्जा क्षमता 20,000 मेगावाट तक पायी गयी जिसमें से केवल तमिलनाडु और गुजरात की ही क्षमता लगभग 10,000 मेगावाट है। आंध्र

प्रदेश, कर्नाटक और केरल में भी पवन ऊर्जा उत्पादन
प्रबल संभावनाएं मौजूद हैं।

भारत में 1950 के दशक में पहली बार सिंचाई और घ
उपयोग के लिए जल उपलब्ध कराने के लिए डीजल या वि
चालित पम्पसैटों के विकल्प के रूप में पवन चालित जलप
का उपयोग किया गया। यह जलपम्प राष्ट्रीय वैमा
प्रयोगशाला, वै औ अ प, बंगलौर द्वारा बाहर से आयात कि
गए थे और इन्हें प्रायोगिक आधार पर अनेक स्थानों
स्थापित किया गया। इनके अतिरिक्त स्वदेश में निर्मित 2
गियर टाइप पम्प सैट भी 9 राज्यों में स्थापित किए गए। ग
कुओं से जल निकालने में सक्षम इन पम्पों ने बेहतर परिण
प्रदर्शित किए जबकि 12 पी यू 500 मॉडल विभिन्न तकनी
और अतकनीकी कारणों से बहुत से क्षेत्रों में सफल नहीं हु
इन परिणामों के आधार पर पवन मशीनों में अनेक रूपांत
किए गए जिससे उन्हें भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार अ
से अधिक उपयोगी बनाया जा सके। आज कल विशेष
गियर टाइप पवन चक्कियों पर ध्यान दिया जा रहा
तमिलनाडु, पांडिचेरी, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान
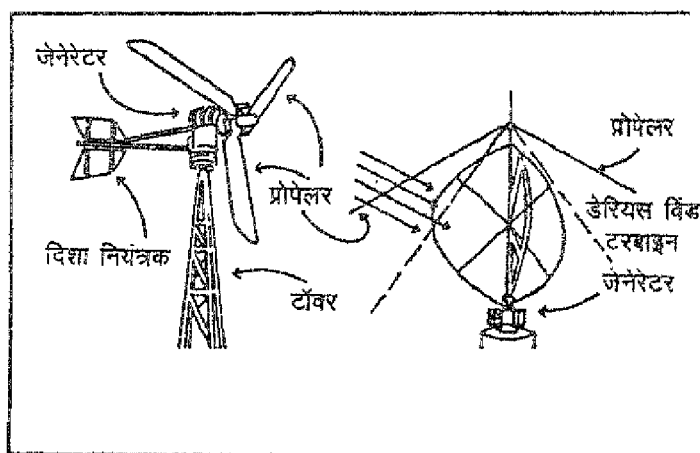
समतल और उर्ध्वाधर धुरी वाली पवन मशीन

बिहार और कर्नाटक जैसे भारत के सभी बड़े राज्यों में पवन किए जा चुके हैं और जिन गांवों में लोगों को पीने के लिए पानी भरने के लिए 5-6 किलोमीटर तक जाना पड़ता था अब पवन चक्कियों की मदद से उन्हें घर बैठे पानी प्राप्त हो रहा है।

पानी की कमी तो एक समस्या है ही, साथ ही पानी का खारापन भी एक बहुत बड़ी समस्या है। इस दिशा में भी पवन ऊर्जा उपयोगी सिद्ध हुयी है। खारे पानी को पीने योग्य बनाने के लिए राष्ट्रीय वैमानिक प्रयोगशाला ने पवन ऊर्जा चालित विपरीत रसाकर्षण संयंत्र का संभावित प्रारूप तैयार किया है। इसमें एक उच्च दाबीय पम्प को हाई सॉलिडिटी रेशों वाले पवन जलपम्प से जोड़ा जाता है। इसमें ऊर्जा के स्थान पर जल का भंडारण किया जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार सौर ऊर्जा चालित संयंत्र की अपेक्षा पवन शक्ति द्वारा संचालित यह यंत्र कहीं सस्ता है।

परिवर्तनीय ऊर्जा स्रोत के रूप में पवन ऊर्जा का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग है इससे विद्युत का उत्पादन। अभी तक किए गए अनुमानों के अनुसार यहां की पवन में लगभग 20,000 मेगावाट विद्युत उत्पादन की क्षमता है। देश के उत्तर और उत्तरपूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों में यह क्षमता और भी अधिक है। यद्यपि इन क्षेत्रों का विस्तृत सर्वेक्षण करना अभी शेष है। पिछले 10-15 वर्षों में प्राप्त अनुभवों के आधार पर स्टैंड एलोन और ग्रिड से जुड़े पवन विद्युत उत्पादकों की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता। भारत में, अब तक 56 मेगावाट की पवन विद्युत क्षमता वाले संयंत्र स्थापित किए जा चुके हैं और आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान इसे बढ़ा कर 500 मेगावाट करने की योजना है। विद्युत पैदा करने वाली पवन चक्कियों में अधिकतम 3 मेगावाट वाली पवन चक्कियों का निर्माण हो चुका है जिन्हें एक साथ लगाकर अधिक
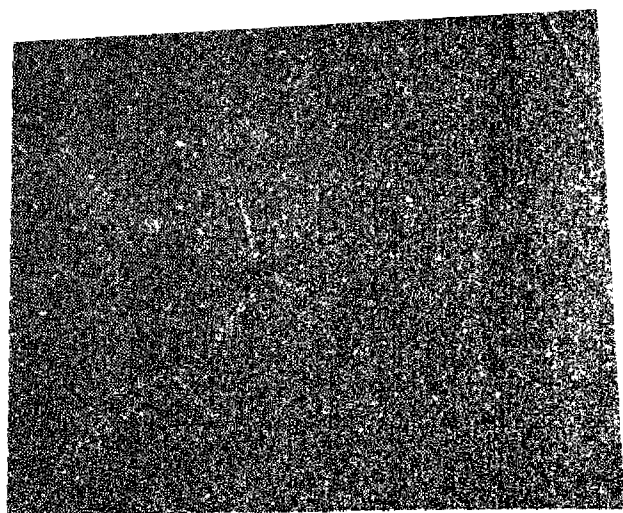
पवन शक्तिः एशिया का सबसे बड़ा विंडफार्म

में विद्युत प्राप्त करना संभव है। ऐसे फार्म बन
कई पवन चक्कियों को जोड़कर विद्युत उत्प
। है। वह स्थान विंडफार्म या पवन फार्म कहलात
स्थान पर स्थापित किया जाता है जहां पवन
त गति 18 किलोमीटर प्रति घंटा या पवन में
0 किलो वाट घंटा/वर्ग मीटर प्रति वर्ष हो।
र्थिक रूप से उपयोगी होते हैं। इनके लिए बहुत
दार स्थानों की आवश्यकता होती है। इसके अ
गति और लंबे समय तक एक ही दिशा में हो
भी ध्यान में रखा जाता है। लेकिन विंडफार्मों की
विशेषता है। एक विंडफार्म में भूमि का के
शत भाग ही पवन विद्युत उत्पादकों की स्थापन
ा है जबकि शेष खुले क्षेत्र का उपयोग फसल
शुओं को चराने के लिए किया जा सकता है

हमारे देश में इस प्रकार के पवन फार्मों की स्थापना का काम 1985 में आरम्भ हुआ था। तब से आज तक पवन फार्मों की स्थापना का कार्य निरंतर जारी है। उड़ीसा में पोरबंदर से 50 किलोमीटर दूर लंबा गांव के निकट स्थित पवनशक्ति नामक विंडफार्म, एशिया का सबसे बड़ा विंडफार्म है जिसकी उत्पादन क्षमता 10 मेगावाट है। अभी तक कुल सात राज्यों में विंडफार्म स्थापित किए जा चुके हैं जिसमें से गुजरात में ओखा, मांडवी, ओखामधी और तूना; तमिलनाडू में तूतीकोरिन, कायालार, पुलियान्कुलम और मुलाकाडु; उड़ीसा में पुरी, महाराष्ट्र में देवगढ़, आंध्र प्रदेश में तिरुमलाई, मध्य प्रदेश में खेड़ा और कर्नाटक में तालाकावेरी स्थित विंडफार्म प्रमुख हैं। अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय का अपारंपरिक ऊर्जा विभाग इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

ऊर्जा उत्पादन का एक और स्रोत है 'स्टैंड एलोन मोड' जहां एकमात्र पवन मशीन ही ऊर्जा उत्पादन का स्रोत होता है। यह मोड लद्दाख जैसे सुदूर एवं पहाड़ी क्षेत्रों में अत्यंत उपयोगी है। विशेष रूप से दूरदराज के क्षेत्रों में, स्थापित 'हाइब्रिड मोड' भी ऊर्जा का ऐसा ही स्रोत है। इसमें पवन मशीन को अन्य ऊर्जा स्रोत जैसे कि डीजल इंजन चालित उत्पादन तंत्र के साथ लगाया जाता है जिससे चौबीस घंटे बिजली की उपलब्धता बनी रहे। पारम्परिक डीजल चालित सैलों की तुलना में ये हाइब्रिड सिस्टम अधिक उपयोगी होते हैं इससे न केवल महंगे डीजल ईंधन की खपत को कम किया जा सकता है बल्कि कम खर्च पर विद्युत का उत्पादन होता है।

पवन ऊर्जा उत्पादकों द्वारा बैटरियों को आवेशित किया जा सकता है जिनमें प्रकाश के लिए, रेडियो संचार, चिकित्सा उपकरणों और विभिन्न इमरजैंसी उपकरणों के लिए ऊर्जा संग्रहीत की जा सकती है। ये पवन ऊर्जा उत्पादक बैटरी चार्जर कहलाते हैं। ये बैटरी चार्जर ऐसे क्षेत्रों में उपयोगी होते

हैं। जहां ग्रिड का विस्तार या तेलों की आपूर्ति या तो संभव नहीं होती या फिर बहुत कठिन होती है। भारत में लद्दाख से सिक्किम तक की हिमालय श्रृंखला, अंदमान, निकोबार और लक्षद्वीप, राजस्थान के रेगिस्तानी क्षेत्रों, उत्तर पश्चिमी पहाड़ियों, मध्य प्रदेश के घने जंगलों, गुजरात और महाराष्ट्र के तटीय प्रदेशों, एवं पश्चिमी बंगाल के सुंदरवन और 24 परगना क्षेत्रों में ये अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। यद्यपि अभी इनका निर्माण भारत में नहीं हो रहा है लेकिन भेल, एन ए एल और एन ई पी सी आदि संगठनों ने इसका प्रोटोटाइप तैयार कर लिया है जिसके क्षेत्र परीक्षण किए जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (मद्रास) और भेल ने डेरियस टाइप 1.5 मेगावाट चार्जर के प्रदर्शन निदर्श तैयार किए हैं जिन्हें तमिलनाडु, गुजरात, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में स्थापित किया गया है। ये निदर्श पूर्ण रूप से स्वदेशी हैं। परीक्षणों के दौरान ही इन निदर्शों ने 1.25 किलोमेगावाट ऊर्जा का सफल उत्पादन किया। लेकिन इनके निर्माण पर होने वाला भारी खर्च, इनके उत्पादन में सबसे बड़ी बाधा थी। हाल में ही, भेल ने बैटरी आवेशित करने के लिए एक 4 किलोमीटर क्षमता वाला, दो ब्लेड युक्त, समानांतर धुरी वाला स्थायी चुंबक उत्पादक विकसित किया है। इसमें चुंबक के अतिरिक्त सभी घटक स्वदेशी हैं।

पवन ऊर्जा के समुचित उपयोग के लिए अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय द्वारा महत्वपूर्ण कदम उठाए जा रहे हैं। ये कदम कुछ बातों को ध्यान में रख कर उठाए जा रहे हैं जिससे एक ओर तो पवन ऊर्जा का अधिक से अधिक उत्पादन हो सके, वहीं दूसरी ओर जरूरत पड़ने पर उपयोग करने के लिए सही ढंग से भंडारित किया जा सके। देश की

भारत में अब तक स्थापित पवन ऊर्जा केन्द्र

राज्य	स्थापित क्षमता (मेगावाट)	शीघ्र स्थापित की जाने वाली इकाइयों की क्षमता (मेगावाट)
तमिलनाडु		
कायातार	10.30	—
मुप्पांडल	4.00	—
तूतीकोरिन	1.55	—
पुलियनकुल	1.59	—
केथानूर	—	2.00
एन एच डब्ल्यू परियोजना	0.22	—
गुजरात		
लांबा	10.00	0.20
ओखामथी	3.30	—
औखा	0.66	0.44
मंडवी	1.49	—
तूना	0.695	—
ढोक	—	2.00
आंध्र प्रदेश		
तिरुमाला	0.55	0.50

रानीगिरि	—	2.00
महाराष्ट्र		
देवगढ़	1.10	—
दुर्ग	—	1.50
मध्य प्रदेश		
खेड़ा	0.59	—
उड़ीसा		
पुरी	1.10	—
कर्नाटक		
तालाकावेरी	0.55	—
कपाटागुड़ी	—	2.00
जोगीमती	—	4.00
केरल		
कांजीकोड	—	2.00
कुल	37.3	16.64

आठवीं पंचवर्षीय योजना में पवन ऊर्जा उपलब्धता की दिशा में पूर्ण स्वदेशीकरण पर भी जोर दिया गया है। इस काम में सरकारी तंत्र ही नहीं निजी कंपनियां, सरकारी उपक्रम आदि पूरी तरह सहयोग दे रहे हैं। हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लि., बंगलौर और रक्षा अनुसंधान तथा ब्लेडों के अभिकल्पन और विकास का काम आरम्भ किया है। मद्रास के समीप भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि. की रानीपेट इकाई में पवन ऊर्जा केन्द्र की स्थापना की गयी है। तमिलनाडु में कुल 7.5 मेगावाट क्षमता वाली पवन फार्म परियोजनाएं गैर सरकारी क्षेत्र में स्थापित की गयी हैं। अन्य राज्यों में भी गैर सरकारी क्षेत्र में पवन फार्म

परियोजनाओं को लागू किए जाने की योजना है। गैर सरकारी क्षेत्र में विद्युत उत्पादन बढ़ाने के लिए तमिलनाडु और गुजरात जैसे राज्यों ने प्रोत्साहन देना आरंभ कर दिया है। आने वाले वर्षों में, भारत जैसे विकासशील देश की ऊर्जा संबधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पवन शक्ति, निस्संदेह एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

सौर ऊर्जा

मध्य प्रदेश के बस्तर जिले का एक छोटा सा जनजातीय गाव, आधुनिक सुख सुविधाएं जहां के लिए आज भी दिवास्वप्न जैसी हैं, वर्ष 1984 में वहां आशा की एक किरण जगमगायी जब सड़कों पर सौर प्रकाश वोल्टीय प्रणाली द्वारा प्रकाश की व्यवस्था की गयी।

आंध्र प्रदेश में हैदराबाद से लगभग 100 किलोमीटर दूर स्थित गांव सालोनिपल्ली में, वर्ष 1982 में सौर प्रकाशवोल्टीय प्रणाली द्वारा सड़कों पर प्रकाश व्यवस्था के साथ साथ एक सार्वजनिक टेलीविजन सैट की भी व्यवस्था की गयी जो सौर विद्युत द्वारा चलता था।

राजस्थान के बीकानेर और जैसलमेर जैसे रेगिस्तानी इलाकों से लेकर अरूणांचल प्रदेश के पहाड़ों और अंदमान निकोबार द्वीप समूहों में आज सौर ऊर्जा चालित उपकरणों द्वारा विद्युत तथा ऊर्जा की अन्य आवश्यकताओं को पूरा किया जा रहा है। भारत के सैकड़ों गांव ऐसे हैं जहां स्टैंड एलोन पी वी प्रणालियां गांव वालों की विद्युत संबंधी मूल आवश्यकताओं को पूरा कर रही हैं। ऐसे गांवों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। भारत में कुल उपलब्ध सौर ऊर्जा 5,000 ट्रिलियन किलोवाट घंटा प्रतिवर्ष है जो देश की कुल ऊर्जा खपत से कहीं ज्यादा है

लगभग तीन दशक पहले नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय
प्रयोगशाला में सौर सैलों का निर्माण कार्य आरंभ हुआ।
मे ये सौर सैल कैडमियम सल्फाइड के बने होते थे
बाद में यहां सिलिकान के सौर सैल विकसित किए गए।
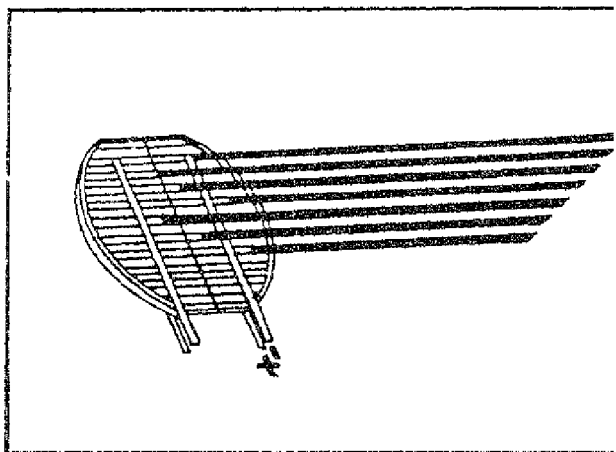
सौर सैल

ये सौर सैल फोटोवोल्टीय प्रभाव द्वारा सौर ऊर्जा को सी
विद्युत ऊर्जा में बदलने की क्षमता रखते हैं। इन सौर सैलें
जोड़ कर सौर पैनल बनाए जाते हैं। इन सौर पैनलों को
समानान्तर तथा श्रेणी क्रम में संबद्ध कर विभिन्न उपकरण
चलाने के लिए ऊर्जा प्राप्त की जाती है। इनका उपयोग
स्थानों में स्थापित मौसम संयंत्रों, समुद्र में प्रकाश स्तम्भों
दूरवर्ती गावों को बिजली उपलब्ध कराने के लिए किया
है। हालांकि ये सौर पैनल अभी बहुत महंगे हैं लेकिन
किए जा रहे हैं कि इनका मूल्य कम कर इन्हें और
अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

सौर ऊर्जा के क्षेत्र में हमारे देश ने अनेक सफलताएं
की हैं जिसमें अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय का मह
योगदान है। सौर तापीय ऊर्जा कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य

आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुसंधान, विकास, प्रदर्शन और विस्तार आदि दिशाओं में महत्वपूर्ण कदम उठाए जा रहे हैं। जिसके अन्तर्गत ये विभाग अपने सौर ऊर्जा केन्द्रों पर उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग करने के अलावा अनुसंधान और विकास में लगे संस्थानों की परियोजना को भी प्रायोजित कर रहा है।

अनुसंधान एवं विकास प्रयासों के अन्तर्गत जल तापन, वायु तापन, विलवणीकरण, काष्ट शुष्कन, खाना पकाने की सौर तापीय प्रौद्योगिकियां विकसित की जा चुकी हैं। इन प्रौद्योगिकियो को अधिक कुशल और प्रभावी बनाने के लिए नई उन्नत डिजाइनों के विकास के प्रयास किए जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त प्रशीतन, जल पम्पन, विद्युत उत्पादन आदि के लिए सौर ऊर्जा के उपयोग करने के लिए उपकरण और प्रणालियो का भी विकास किया जा रहा है। देश के दूर दराज के गावों में, जहां बिजली की सुविधा उपलब्ध नहीं हैं, जीवन रक्षक दवाओं और वैक्सीनों को सुरक्षित रखने के लिए सौर तापीय ऊर्जा चालित रैफ्रीजरेटरों के विकास के लिए आई बी पी कम्पनी लि., मुंबई, सरदार पटेल परिवर्तनीय ऊर्जा अनुसंधान सम्स्थान, विद्यानगर और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास मे अनुसंधान परियोजनाएं आरम्भ की गयी हैं।

बदलते मौसम और विभिन्न जलवायु वाले भारत जैसे देश में विभिन्न डिजाइनों वाले भवनों की आवश्यकता होती है। आज सौर तापीय प्रौद्योगिकी का उपयोग भवन निर्माण में भी किया जा रहा है। सोलर पैस्सिब आर्कीटेक्चर परियोजना के अन्तर्गत जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश के पहाड़ी और ठंडे प्रदेशों में 'सौर कुत झोपड़ियां' बनायी जा चुकी हैं। सौर झोपड़ियों के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए लागत भागीदारी परियोजना आरम्भ की गयी है। इसके अतिरिक्त सौर हरित ग्रहों के माध्यम से यह सिद्ध हो

सौर कुकर

एस पी वी जल पम्पिंग प्रणाली

गया है कि लेह और कारगिल जैसे मरूस्थली स्थानों पर भी सब्जियां उगायी गया हैं। अब तक लेह और कारगिल में ऐसे सात हरित गृह स्थापित किए जा चुके हैं।

सौर ऊर्जा चालित अब तक विकसित अनेकों उपकरणों मे जिसका उपयोग आम लोगों में सबसे अधिक हुआ है वह है पानी गर्म करने का उपकरण अर्थात सौर ऊष्मक। ये जल ऊष्मक नई दिल्ली के भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान और केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, रूड़की ने विकसित किए हैं। घरेलू उपयोग के जल ऊष्मकों की क्षमता 50 लीटर प्रतिदिन और औद्योगिक उपयोग के जल ऊष्मकों की क्षमता 240,000 लीटर प्रतिदिन है। पिछले दशक में भारत में विभिन्न प्रकार के सौर ऊष्मक विकसित और स्थापित किए जा चुके हैं।

जल पम्पिंग, भारत में विकसित प्रकाशवोल्टीय तकनीक के आरम्भिक अनुप्रयोगों में से है। सिंचाई के लिए पम्प सैट चलाने के लिए बिजली और डीजल की दिन पर दिन बढ़ती मांग और घटती आपूर्ति को देखते हुए प्रकाश वोल्टीय पम्पिग सिस्टम अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। सैंट्रल इलैक्ट्रानिक्स लि. ने पहली बार बड़े सौर पैनल की सहायता से चलने वाले जल पम्पों का निर्माण किया है। दूरवर्ती गांवों में जहां बिजली पहुंचाना संभव नही है वहीं जल आपूर्ति के लिए ये अत्यत उपयोगी हैं। इन पम्पों की एक विशेषता और भी है। जिस समय पम्प काम नहीं कर रहा होता, सौर पैनलों द्वारा उत्पन्न बिलजी संग्रहण बैटरियों में संग्रहीत की जा सकती है और रात को या ऐसे समय जब धूप उपलब्ध न हो, इस ऊर्जा का प्रयोग किया जा सकता है।

लगभग तीन दशक पहले राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला, नई दिल्ली ने सौर कुकर का एक व्यापारिक निदर्श विकसित किया था और आज देश में लगभग 60 निर्माता सौर कुकर बना रहे हैं और देश के 13 राज्यों में इनके बिक्री केन्द्र स्थापित

किए जा चुके हैं। सौर कुकर, सौर ऊर्जा द्वारा भोजन पकाने की ऐसी युक्ति है जिसमें पारंपरिक ईंधन की काफी बचत होती है। सौर कुकर के बाद अब सौर चूल्हे भी बनाए जा रहे हैं।

भंडारण से पहले अनाज को सुखाना जरूरी होता है। इसके लिए नेशनल इंडस्ट्रियल डिवेलपमेंट कारपोरेशन, नई दिल्ली ने सौर शुष्कक विकसित किए हैं। अनाज सुखाने का यह सौर शुष्कक कम कीमत में आसानी से बनाया और स्थापित किया जा सकता है। यह फसल कटाई के मौसम में 85 से 90 प्रतिशत दिनों तक कार्य कर सकता है। इसका उपयोग अनाज के अतिरिक्त फल, मछली और काष्ठ को सुखाने के लिए किया जा सकता है। इसके अन्य उपयोगों में चाय का सुखाना और काष्ठ की सीजनिंग शामिल है। देश के विभिन्न भागों में इससे संबंधित अनेक सफल परियोजनाएं चालू हो चुकी हैं। तमिलनाडु में चाय उद्योग में पारंपरिक वायु ऊष्मक संयंत्रों को सौर ऊर्जा संयंत्रों के साथ समाकलित किया गया है।

भारत में बहुत से भाग ऐसे हैं जहां दूरदर्शन संकेतों को उपग्रह के माध्यम से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसे स्थानों तक दूरदर्शन के कार्यक्रमों को पहुंचाने के लिए एक रिसीवर-कम-ट्रांस्मीटर की जरूरत होती है। इन उपकरणों के काम करने के लिए नियमित बिजली आपूर्ति भी जरूरी है। तब सौर पी वी ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। आज देश के विभिन्न भागों में लगभग 200 स्टैंड एलोन सौर पी वी चालित वेरी-लो-पावर टेलीविजन ट्रांस्मीटर काम कर रहे हैं। यहां तक कि उन क्षेत्रों में भी जहां नियमित बिजली आपूर्ति सुविधा उपलब्ध है वहां भी दूरदर्शन सौर पी वी चालित वी एल पी टी पर ही निर्भर है।

अब कुछ ही वर्षों में भारतीय ग्रामीण दूर संचार सेवा भी आरंभ होने वाली है। इसके अन्तर्गत दूर दराज के गांवों को 70 Wp स्टैंड एलोन सौर पी वी चालित इकाइयों द्वारा मूल टेलीफोन एक्सचेज इकाई से जोडा जाएगा। अब तक इन

ग्रामीण टेलीफोन सेवाओं के लिए लगभग 100,000 सौर पी वी पावर पैक्स खरीदे जा चुके हैं और दूर संचार विभाग इनकी स्थापना के कार्य में व्यस्त है। ये सभी उपकरण भारतीय कम्पनियों द्वारा निर्मित हैं।

ऐसे और भी अनेक क्षेत्र हैं जहां सौर पी वी अपनी उपयोगिता रखते हैं जैसे रेलवे स्टेशनों पर तेल वाले सिगनलों के स्थान पर स्टैंड एलोन सौर पी वी संकेतकों का प्रयोग, बैटरियों को चार्ज करने के लिए सोलर पी वी मॉड्यूल का प्रयोग या पेट्रोल पम्पों पर विद्युत संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए सौर पी वी का उपयोग आदि। आज हमारे देश में सौर फोटोवोल्टाइक तकनीक काफी विकसित हो चुकी है लेकिन महंगी होने के कारण हमारी आपकी पहुंच से बाहर है इसलिए इनकी कीमत घटाने का लक्ष्य अभी पूरा करना है।

व्यर्थ पदार्थों से मिलती ऊर्जा

गांवों में आज भी पशुधन काफी संख्या में मौजूद है। एक समय था जब गो पशुओं से प्राप्त गोबर को उपले बना कर फूंक दिया जाता था लेकिन अब वैज्ञानिकों ने इसके सदुपयोग का मार्ग ढूंढ निकाला है और वह है ऊर्जा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए गोबर गैस संयंत्रों का निर्माण।

आज न केवल गोबर बल्कि कृषि व्यर्थ उत्पादों का प्रयोग भी इस संयंत्र द्वारा बायोगैस उत्पादन के लिए किया जा रहा है। इसका एक अन्य लाभ यह भी है कि जहां एक ओर ये संयंत्र गैस प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर इनसे प्राप्त व्यर्थ पदार्थ का उपयोग खेती में खाद के रूप में किया जा सकता है। यही कारण है कि आज बायोगैस संयंत्र देश के कोने-कोने में लग चुके हैं।

में अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत विभाग की स्थापना
योगैस इकाइयों के विकास की दिशा में गति अ
जहां इस विभाग द्वारा इस दिशा में स्वयं कार्य कि
ससे जुड़ी संस्थाओं को भी मदद दी गई। इस
ने वर्ष 1980 में एक राष्ट्रीय स्तर की योजन
स पर सुव्यवस्थित ढंग से कार्य 1981-82 दे
हुआ। जिससे न केवल ग्रामीणों को लाभ हुअ
पर्यावरण में भी सुधार हुआ। वर्ष 1980 मे
की संख्या दस हजार थी जो अब एक लाख अ
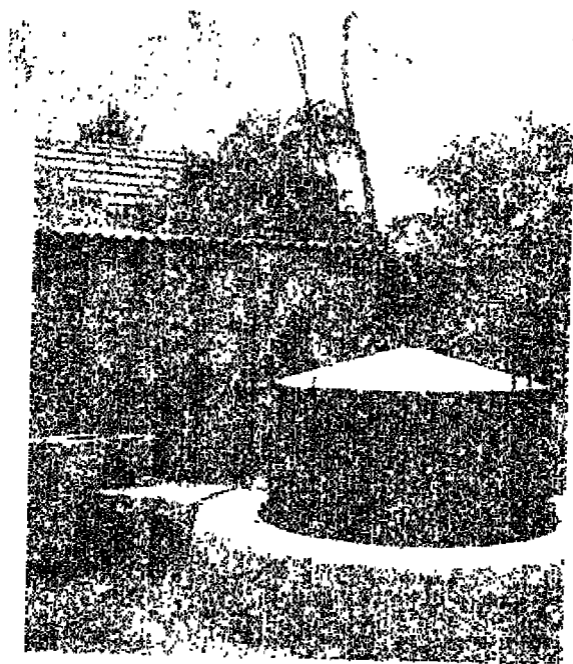
कर्नाटक में स्थापित बायोगैस संयंत्र

मिलनाडु में बायोमास दहन द्वारा संचालित संयंत्र

। स्थापना का लक्ष्य है। इसके लिए तीन अरब
का प्रावधान रखा गया है। इसके अतिरिक्त वि
सरकारी और गैर सरकारी संगठनों द्वारा गैस स
किया जा रहा है। बायोगैस की दिशा में हा
व पार किए जा चुके हैं परंतु अभी भी इस
न और विकास की आवश्यककता है।

तक बायोमास के स्रोतों का प्रश्न है वि
तथा फसलें इसका आधार है। इसके बलावा
ाय खरपतवार बायोमास ऊर्जा के महत्वपूर्ण अं
रिपोर्ट के अनुसार कैलाट्रापिस, होहोबा, झाड़ी

यूफोर्बिया आदि ऐसे पौधे हैं जिसमें लेटेक्स यानि दूध जैसा पदार्थ प्राप्त होता है। इस पदार्थ में 75 प्रतिशत हाइड्रोजन होती है। यह ऊर्जा का अनोखा स्रोत है। जलीय खरपतवारों से भी ऊर्जा प्राप्त करने की दिशा में सफलता मिली है। जलकुंभी जैसे कई खरपतवार बायोमास के अनोखे स्रोत हैं। अध्ययनों के दौरान देखा गया है कि मात्र आठ माह की अवधि में जलकुंभी के एक पौधे से 60 हजार पौधे तैयार हो जाते हैं। एक हेक्टेयर क्षेत्र में उगी जलकुंभी से डेढ़ सौ टन वानस्पतिक पदार्थ प्राप्त हो जाता है। एक अन्य तथ्य के अनुसार इसके एक किलो शुष्क भार से कोई चार सौ लीटर बायोमास प्राप्त किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त समुद्रों में भारी मात्रा में उगने वाले शैवाल ऊर्जा के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन शैवालों को लेकर यदि गैस तैयार की जाए तो ऊर्जा की आवश्यकता काफी हद तक पूरी की जा सकती है। एक रिपोर्ट के अनुसार महाराष्ट्र के समुद्री तट से ही लगभग 3000 टन शुष्क भार की घासें प्राप्त की जाती हैं जो बायोमास का महत्वपूर्ण अंश है। आज बायोमास कम से कम ग्रामीण क्षेत्रों के लिए तो महत्वपूर्ण ऊर्जा स्रोत है ही।

ऊर्जा के अपारंपरिक स्रोतों के विस्तार के लिए सरकार ने अनुसंधान और विकास से संबंधित कई महत्वपूर्ण कार्यक्रम आरम्भ किए हैं। जिन्हें सही दिशा देने के लिए वैज्ञानिक कृत संकल्प हैं। हालांकि अपारंपरिक ऊर्जा स्रोतों की दिशा में हो रहे ये अनुसंधान अत्यंत महत्वपूर्ण हैं परन्तु आम लोगों की धारणा है कि ये अपेक्षाकृत महंगे हैं इसलिए उनकी पहुंच से बाहर हैं। लेकिन जहां एक ओर ऊर्जा के पारंपरिक स्रोत अति दोहन के कारण समाप्ति की कगार पर हैं वहीं उनके कारण पर्यावरण में बढ़ते प्रदूषण को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता' ऐसे में अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत ही एकमात्र विकल्प रह जाता है।

सबके स्वास्थ्य के लिए

एक समय था जब हमारे देश में चेचक, हैजा, मलेरिया और प्लेग जैसे अनेक रोग महामारी की तरह फैलते थे ओर गांव के गांव उजड़ जाते थे। प्रतिवर्ष अकेले मलेरिया से ही लगभग 7.5 करोड़ व्यक्ति मर जाते थे। औसतन प्रतिदिन 1000 में से लगभग 27 लोग किसी न किसी बीमारी के कारण मृत्यु का शिकार हो जाते थे। प्रति 1000 बच्चों में से लगभग 130 बच्चे जन्म के बाद, पांच वर्षों के अंदर मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। लेकिन आज स्थिति काफी कुछ बदल चुकी है। अब चेचक कहीं दिखायी नहीं देती। हैजा एक ऐसी भूली बिसरी बीमारी बन चुका है, बरसात के मौसम में कभी कभी जिसका नाम सुनायी देता है। यही हाल प्लेग का भी है। हालांकि अभी कुछ समय पहले इसका नाम फिर सुर्खियों में था। पोलियो एवं कुष्ठ रोगों के भी इस सदी के साथ ही समाप्त हो जाने की संभावना है। चिकित्सा क्षेत्र में इन क्रांतिकारी परिवर्तनों से हमारी औसत आयु बढ़ कर 62 वर्ष हो गई है। मृत्यु दर घटकर 9 व्यक्ति प्रति हजार तक आ गई है।

इसका श्रेय जहां एक ओर सुधरी स्वास्थ्य सेवाओं को जाता है वहीं इसका श्रेय भारतीय वैज्ञानिकों और अनुसंधानकर्ताओं को भी जाता है जिनके प्रयासों के फलस्वरूप अब अनेक जीवनदायिनी औषधियां देश में ही बनने लगी हैं और इतने कम दामों पर उपलब्ध हैं कि जनसाधारण भी उनका लाभ उठा सकता है। भारतीय रासायनिक प्रौद्योगिकी संस्थान, हैदराबाद,

ीय औषध अनुसंधान संस्थान, लखनऊ, राष्ट्रीय र
गशाला, पुणे के अतिरिक्त कुछ निजी संस्थानों जैसे
। एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड और ि
ाबायोटिक्स लिमिटेड ने केवल पिछले दो दशकों मे
अधिक औषधियां बनाने की स्वदेशी तकनीकें विक
इन तकनीकों से बहुत से एण्टीबायोटिक, दर्द
र्जी-रोधी एन्टीहिस्टामिन, एन्टी-अर्थराइटिक, तंत्रिक
ारक, कैंसर-रोधी रसायन, विटामिन आदि बनाना सभ
दूसरे शब्दों में, अधिकांश आमतौर से पायी जा
ारियों के इलाज के लिए दवाइयां अब देश में र
लब्ध हैं और हमें विदेशों का मुंह नहीं देखना पड़ता।
विटामिन बी6 का उत्पादन इसका एक बहुत अच्छा
अनेक दवाइयों के साथ साथ खाद्य संसाधन उ
ामिन बी6 की जरूरत पड़ती है। लेकिन भारत में इ

पत की तुलना में बहुत कम था। इसलिए इ
में आयात करना पड़ता था। आठवें दशक त
किलोग्राम 1000 अमेरिकी डालर की दर से आय
था। दुनिया भर में विटामिन बी6 का उत्पाद
देशों में होता है और ये देश अपनी तकनीक बत
तैयार नहीं थे। भारतीय रासायनिक प्रौद्योगिकी संस्थ
कों ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार कि
दो वर्षों के छोटे से समय में ही विटामिन बी6
तकनीक ही नहीं ढूंढ निकाली बल्कि इसका
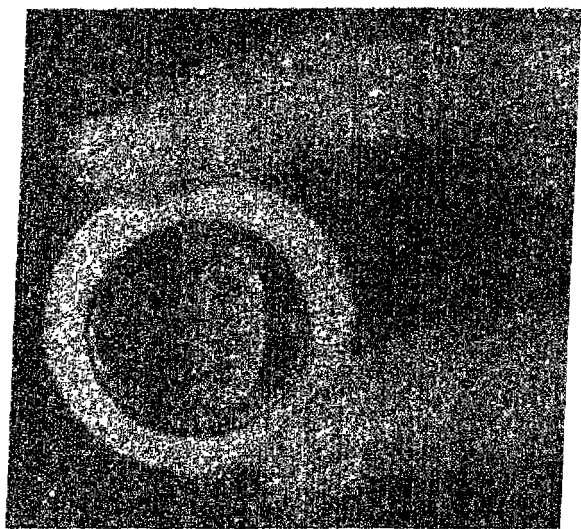
ल के रोगियों के लिए स्वदेश में ही बना चित्रा वाल्व

भी आरंभ कर दिया। लगभग दस साल पहले
ल्यूपिन लेबोरेट्रीज, मुंबई ने ले ली और आज
रिकी डालर प्रति किलोग्राम के मूल्य पर उपलब्ध
नहीं, भारत इसका निर्यात भी कर रहा है।
एकमात्र उदाहरण नहीं है। ऐसे और भी उदाहरण
समय था जब पैरासिटामॉल नामक दर्द निवारक
कम करने के लिए दी जाने वाली इस औषधि

से मगाना पड़ता था। छठे दशक मे केन्द्री
धान संस्थान के वैज्ञानिकों ने इसे स्वदेश में
एक नई सफल तकनीक विकसित की और
है कि दूसरे देश इथाम्ब्युटॉल, मैटोनिडाजोल,
पैरासिटामॉल जैसी औषधियों की आपूर्ति के
र्भर हैं। हाल में ही भा रा प्रौ सं के वैज्ञानिकों
घातक बीमारी में दी जाने वाली औषधि ए
की विधि विकसित की है। भारत में निर्मित इ
ल्य आयातित औषधि के मूल्य से कहीं कम है।
ा नहीं है कि यहां केवल पूर्व विकसित औ
ही खोजे गए हैं, भारतीय वैज्ञानिकों ने
यां विकसित करने के सफल प्रयास भी किए हैं।

ई सी जी विश्लेषक
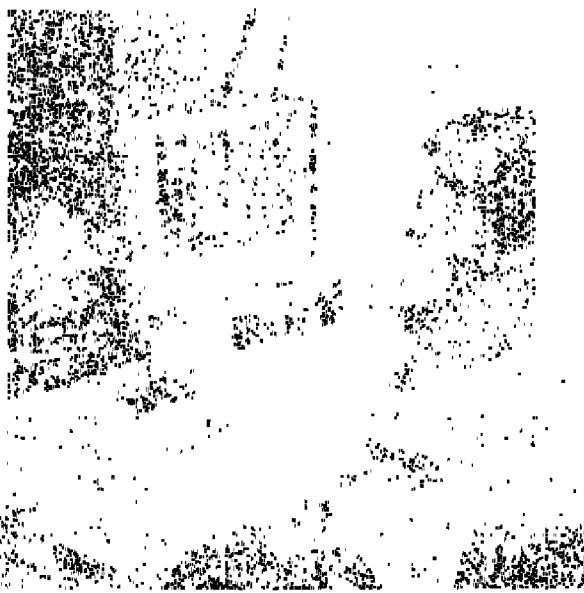
चार दशकों में भारतीय अनुसंधानकर्ताओं ने लगभग एक दर्जन औषधियां विकसित कर बाजार में रिलीज की हैं। ऐसी ही एक औषधि है गुग्गुलिपिड। रक्त में कोलेस्ट्राल की मात्रा घटाने वाली यह औषधि गुग्गुल नामक पौधे से निष्कर्षित की जाती है। के औ अ सं के इस प्रयास ने अनेक यूरोपीय देशों का ध्यानाकर्षित किया है। के औ अ सं के वैज्ञानिकों द्वारा विकसित एक अन्य महत्वपूर्ण औषधि है मेमोरी प्लस। स्मृति को बढ़ाने वाली इस औषधि में ब्राह्मी नामक पौधे से निष्कर्षित रसायन बैकुलोसाइड होता है जिसका विवरण आयुर्वेद में भी मिलता है। इसी प्रकार रा रा प्र, पुणे के वैज्ञानिकों ने सदाबहार के पौधे से विंक्रिस्टीन नामक रसायन निष्कर्षित कर एक कैंसर निवारक औषधि बनायी है।

एक ओर जहां लोगों को जीवनदान देने के लिए अनेक औषधियां बनायी गई हैं, वहीं जैवनैदानिक अनुसंधानों के क्षेत्र में भी भारतीय वैज्ञानिकों का योगदान कुछ कम नहीं है। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है जयपुर फुट जिसकी सहायता से आज न जाने कितने विकलांग व्यक्ति अपने पैरों पर खड़े हो सके हैं। इसके अतिरिक्त, श्री चित्रा तिरूनल इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडीकल टेक्नोलॉजी, त्रिवेन्द्रम द्वारा विकसित चित्रा हार्ट वाल्व न केवल विश्व स्तरीय है बल्कि इसकी कीमत भी कम है। आज यह र्‍यूमेटिक हृदय रोगियों में जीवन की नई आशा का संचार कर रहा है।

स्वतंत्रता के बाद अत्याधुनिक चिकित्सा सेवाओं का भी विकास हुआ है। आज भारत के सभी बड़े बड़े शहरों में रोगों के निदान के लिए अल्ट्रासाउंड, ईसीजी, ईईजी, एन्जिओग्राफी, एनएमआर, एमआरआई, कैट स्कैन की सुविधाएं उपलब्ध हैं जिनसे बहुत कम समय में और रोग का सही सही निदान कर पाना संभव हुआ है। यही कारण है कि आज पहले की अपेक्षा मृत्यु दर घट गयी है। शल्यक्रिया के क्षेत्र में लेसर किरणें का उपयोग आम बात हो गयी है जैसे कि

नेत्रचिकित्सक नेत्र की शल्यक्रिया के लिए लेसर के चाकू का प्रयोग करने लगे हैं। दिल और गुर्दे जैसे अंगों का प्रत्यारोपण एक आम बात हो गयी है बल्कि पिछले दिनों दिल्ली के एक अस्पताल में यकृत का भी सफल प्रत्यारोपण किया गया। लेकिन सबके लिए स्वास्थ्य के लक्ष्य को पूरा करने के लिए जरूरी है कि ये आधुनिक सुविधाएं केवल शहरों तक ही सीमित न रह कर भारत के गांव-गांव तक पहुंचे। गांवों में अभी चिकित्सा सबधी छोटी छोटी सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हैं।

टीकाकरण

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व एडवर्ड जेनर ने सबसे पहले टीके की खोज की थी। तब से आज तक विश्व भर में प्रतिवर्ष टीकाकरण द्वारा 90 लाख बच्चों के जीवन की सुरक्षा करना सभव हुआ है। लेकिन अगर कुछ अन्य बीमारियों के टीके उपलब्ध होते तो संभवतः और कई लाख बच्चों के जीवन बचाए जा सकते हैं। मोटे तौर पर टीकाकरण का अर्थ जीवन की सुरक्षा ही है, वह भी भारत जैसे देश में जहां प्रति वर्ष लाखों बच्चे कुपोषण और गंदगी के कारण अनेक बीमारियों का शिकार हो जाते हैं। गरीब देशों के गरीब बच्चे कई बार ऐसे कारणों से मृत्यु का शिकार हो जाते हैं जिन्हें रोका जा सकता है और इन्हें रोकने का एक ही तरीका है टीकाकरण। पिछले पांच वर्षों में पोलियो, टिटैनस, चेचक और डिप्थीरिया के कारण होने वाली शिशुओं की मृत्यु दर में निश्चित रूप से कमी आयी है। जिसका श्रेय सफल टीकाकरण कार्यक्रम को जाता है। क्योंकि यहां पर्यावरणीय और निजी सफाई संबंधी स्थितियों मे तो कोई विशेष परिवर्तन आया नहीं है लेकिन विभिन्न माध्यमो द्वारा व्यापक प्रचार प्रसार के कारण लोगों में टीकाकरण के प्रति कुछ जागरूकता अवश्य आयी है।

ण मूल रूप से टीके या सीरम द्वारा बीमारियों के
ीर को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया है। ये टीके शरीर
ो बनाने में सक्षम बनाते हैं जो बीमारियों से लड़
को प्रतिरक्षा प्रदान करती हैं। इस प्रकार टीकों में
पदार्थ मौजूद होता है जो शरीर के प्रतिरक्षी तंत्र को,
विशेष के प्रति एंटीबॉडी उत्पन्न करने के लिए
रता है। ये एंटीबॉडी वास्तविक रोग कारक जीवों से
संक्रमण से सुरक्षा प्रदान करती हैं। टीकों में मौजूद
तने शक्तिशाली तो होते हैं कि एंटीबॉडी के उत्पादन
कर दें लेकिन ये इतने प्रभावी नहीं होते कि रोग
। ये टीके कई प्रकार से बनाए जाते हैं जैसे कि
टीके मृत रोगकारक जीवाणु या विषाणुओं से बनाए
कुछ में जीवित जीवाणु या विषाणु होते हैं लेकिन
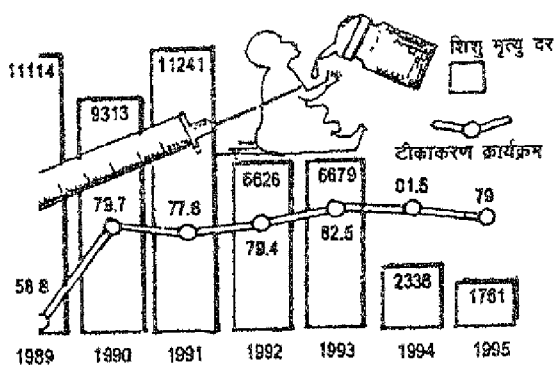
टीकाकरण से शिशु मृत्यु दर में आई कमी

ार कि वे रोग को उत्पन्न नहीं कर पाते। कुछ टीके
जीवों के उत्पादों या किसी भाग से बनाए जाते हैं
अन्य टीके रोगवाहक जीवों से मिलते जुलते जीवों
जाते हैं। ये जीव प्रतिरक्षा तो प्रदान करते हैं किन्तु
नहीं करते। इन टीकों के कारण ही आज लोगों

को ऐसे रोगों से छुटकारा मिल सका है जिनका नाम सुनते ही शरीर में कंपकंपी आ जाती है और जब ये रोग फैलते थे तो गांव के गांव खत्म हो जाते थे।

यूं तो यह टीके पश्चिम की देन हैं लेकिन पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में भी इस दिशा में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। जैसे कि कोढ़ जैसे रोग के इलाज के लिए टीका विकसित किया जाना। हाल में ही पहली बार कोढ़ के इलाज के लिए एक टीके का विकास किया गया है, जिसका परीक्षण अब अंतिम अवस्था में है। कोढ़ के लिए अन्य दवाओं के साथ साथ इस टीके को लगाने से न केवल कोढ़ का फैलना रुक जाता है बल्कि इसके खत्म होने की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है। आशा है कि इस साल के अंत तक यह टीका बाजार में आ जाएगा।

कोढ़ एक ऐसा ही रोग है जो न केवल भारत में बल्कि सभी गर्म देशों की प्रमुख स्वास्थ्य संबंधी समस्या है। यह रोग किसी भी व्यक्ति को शारीरिक रूप से तो विकलांग बनाता ही है बल्कि सामाजिक और मानसिक रूप से भी उसे विकलांग बना देता है। इसलिए वैज्ञानिक काफी समय से एक ऐसी वैक्सीन या टीका विकसित करने का प्रयास कर रहे थे जो इस त्रासदी से लोगों को बचा सके लेकिन कोढ़-रोधी टीके के विकास में सबसे बड़ी बाधा थी इस रोग के जीवाणु *माइकोबैक्टीरियम लेप्री* का कृत्रिम संवर्ध माध्यम में विकास। मानव के अतिरिक्त यह जीवाणु केवल दक्षिणी अमेरिका में पाए जाने वाले *आर्माडिलो* नामक जंगली जीव में विकसित होता है। लेकिन संक्रमित *आर्माडिलो* से इस रोग वाहक को विलगित और संवर्धित करना एक अत्यंत कठिन काम था। वर्ष 1958 में, भारतीय कैंसर अनुसंधान संस्थान, मुंबई के वैज्ञानिकों ने पहली बार एक कोढ़ पीड़ित की ग्रंथियों से *माइकोबैक्टीरियम* के एक संवर्धन योग्य विभेद को अलग किया। इसके बाद प्रयोगों

का एक नया सिलसिला शुरू हुआ और अंत में 1979 में आई सी आर सी वैक्सीन का आर्विभाव हुआ। फरवरी 1987 से इसकी प्रभाविता सिद्ध करने के लिए क्षेत्र परीक्षण आरम्भ हुए।

आई सी आर सी वैक्सीन उन वैक्सीनों में से एक है जिनमें न केवल कोढ़ को रोकने की क्षमता है बल्कि यह उन रोगियों के लिए औषधि का भी काम करती है जिनमें औषधियो के प्रति प्रतिरोध क्षमता विकसित हो जाती है। इसकी उपचारात्मक क्षमताओं का पता लगाने के लिए कुछ अन्य परीक्षण किए गए। उसके लिए ऐसे रोगियों का चुनाव किया गया जिन पर कोढ़ के उपचार के लिए दी जाने वाली औषधियां बेअसर होने लगी थी और 2-3 वर्षों के लगातार उपचार के बाद भी उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हो रहा था। ऐसे रोगियों पर आई सी आर सी वैक्सीन का वांछित प्रभाव दिखायी पड़ा और यह स्पष्ट हो गया कि इसका प्रयोग कोढ़ नियंत्रण कार्यक्रम में एक अतिरिक्त हथियार की तरह किया जा सकता है। आज कल आई सी आर सी के वैज्ञानिक एक अन्य कोढ़-रोधी वैक्सीन विकसित करने के प्रयास कर रहे हैं।

लेकिन आई सी आर सी बेसिलस वैक्सीन ही एकमात्र कोढ़ रोधी वैक्सीन नहीं है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षी संस्थान, नई दिल्ली के वैज्ञानिकों ने भी 1974 में एक कोढ़ वैक्सीन बनाई जिसमें *माइकोबैक्टीरियम* के एक ऐसे विभेद का प्रयोग किया जाता है जिसे उष्मा द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इसे *माइकोबैक्टीरियम एम डब्ल्यू* कहा गया। वैज्ञानिकों के अनुसार यदि कोढ़ के उपचार के लिए दी जाने वाली औषधियों के साथ इस टीके का प्रयोग किया जाए तो उपचार की गति तेज हो जाती है।

स्वदेश में ही निर्मित यह कोढ़ वैक्सीन निश्चित रूप से विश्व स्वास्थ्य संगठन की उस वैक्सीन से बेहतर है जिसमे टी

बी वैक्सीन बी सी जी के साथ *आर्माडिलो* पर विकसित जीवाणु होते हैं। ये न केवल शुद्ध और सस्ती है बल्कि कम से कम पांच वर्षों के लिए प्रभावी होती है। जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन की कोढ़ वैक्सीन मंहगी होने के साथ साथ केवल एक वर्ष के लिए ही प्रभावी होती है।

आमतौर से पारम्परिक वैक्सीन या टीके जैसे कि पोलियो, टिटैनस, चेचक या अन्य बीमारियों के टीके एक तरह से 'रोधक्षम स्मृति' पर आधारित होते हैं। टीकाकरण के दौरान शरीर पहली बार रोग कारक के सम्पर्क में आता है जो रूपांतरित अवस्था में होता है और हानिरहित होता है। यह शरीर को तैयार करता है और ऐसी स्मृति कोशिकाएं तैयार करता है। परिणामस्वरूप, बाद में रोगकारक के सम्पर्क में आते ही प्रतिरक्षी प्रतिक्रिया तेज और तीव्र होती है। लेकिन राष्ट्रीय प्रतिरक्षी संस्थान, नई दिल्ली के वैज्ञानिकों द्वारा विकसित गर्भ निरोधी वैक्सीन शरीर को स्वयं अपने ही घटक को अपना नहीं समझने देती। इस प्रकार उसके विरुद्ध प्रतिरक्षी प्रतिक्रिया तेज हो जाती है। यह प्रतिक्रिया कुछ जनन क्रियाओं से संबंधित घटकों के विरुद्ध होती है जैसे कि अंडोत्सर्ग या गर्भावस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक शुक्राणु या हार्मोन या भ्रूण के विकास के लिए आवश्यक हार्मोन आदि। इस वैक्सीन की सहायता से शुक्राणु को नष्ट कर या अंडाणु को रोक कर गर्भ धारण होने से रोका जा सकता है या फिर किसी हार्मोन की कमी के कारण गर्भपात भी हो सकता है।

मनुष्यों पर परीक्षित ह्यूमन कोरिओनिक गोनाडोट्रोपिन मूल रूप से कुछ कोशिकाओं और बाद में प्लेसेंटा द्वारा बनाई जाती है। एच सी जी अणु एंटीजेनिक नहीं होता। इसे एक बाहरी वाहक अणु के साथ जोड़ा जाता है और इस प्रकार बना संकर, गर्भ निरोधी वैक्सीन के रूप में काम करता है। इसे एक के साथ दिया जाता है जिससे प्रतिरक्षी प्रतिक्रिया

तेज होती है। एच सी जी वैक्सीन वास्तविक रूप से गर्भ निरोधी न होकर गर्भस्त्रावदकारी होती है। अब तक इसके किए गए परीक्षणों में देखा गया है कि इसके कोई विशेष पार्श्व प्रभाव नहीं होते। अब यह वैक्सीन परीक्षणों की अंतिम अवस्था में है। केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय प्रतिरक्षी सस्थान में पशुओं के बंध्यीकरण के लिए भी एक वैक्सीन विकसित की गई है जो बाजार में उपलब्ध है। इससे अनचाहे पशुओं की बढ़ती संख्या को नियंत्रित किया जा सकेगा।

मनुष्य और पशुओं दोनों के लिए गर्भ निरोधक वैक्सीन विकसित करने में अग्रणी भारतीय वैज्ञानिकों की एक और बड़ी उपलब्धि भी है। हाल में ही बंगलौर के भारतीय विज्ञान सस्थान के वैज्ञानिकों ने अंडे की सफेदी से भी एक विलक्षण गर्भ निरोधी वैक्सीन तैयार की है। इसमें एल्बुमिन की थोडी मात्रा होती है। अब तक बंदरों और चूहों पर इसके सफल परीक्षण किए जा चुके हैं। जल्दी ही वैज्ञानिक मनुष्यों पर भी इसके परीक्षण करने वाले हैं। यह कहा जा सकता है कि जहा तक गर्भ निरोधी वैक्सीनों की बात है भारतीय वैज्ञानिक दुनिया भर में अग्रणी हैं।

आनुवंशिक अभियांत्रिकी के क्षेत्र में हुए नवीन अनुसंधानों ने वैक्सीन उत्पादन को नए आयाम दिए हैं। इनके कारण ही किसी रोगकारक में ऐसे भागों की पहचान कर पाना संभव हुआ है जो हानिरहित होते हैं किन्तु शरीर की प्रतिरक्षी प्रतिक्रिया को उजागर करते हैं। ये परजीवी के शरीर में मौजूद किसी बड़ी प्रोटीन का एक भाग बल्कि अमीनो अम्ल की छोटी श्रृंखलाएं होती हैं। इन्हें रासायनिक या जैविक रूप से संश्लेषित किया जा सकता है। रासायनिक रूप से संश्लेषित पेप्टाइड अधिक शुद्ध होते हैं और इनमें किसी संदूषित पदार्थ के होने का खतरा नहीं होता। इन्हें संश्लेषित पेप्टाइड वैक्सीन कहते हैं। लेकिन इनका उत्पादन थोडी मात्रा में ही किया जा सकता है।

इन पेप्टाइड वैक्सीनों को बड़ी मात्रा में बनाने के लिए रिकम्बिनेन्ट डी एन ए तकनीक का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए एक उपयुक्त वाहक का चुनाव कर, वांछित पेप्टाइड के लिए कोडित जीन को प्रत्यावर्तित कर दिया जाता है। इसके बाद इस प्रत्यावर्तित अणु को एक उपयुक्त पोषक कोशिका मे प्रवेशित कर दिया जाता है। पोषक में पहुंचते ही यह प्रत्यावर्ती वाहक बहुगुणित होने लगता है और साथ ही साथ पेप्टाइड जीन भी बहुगुणित होती जाती है। मनचाही पेप्टाइड को काफी बडी मात्रा में बनाने के लिए, प्रत्यावर्ती वाहक युक्त पोषक कोशिका को बड़े बड़े टैंकों में रख कर ताप, दाब, वायु, अम्लता आदि की विशेष परिस्थितियों में बहुगुणित कराया जाता है। इसके बाद पोषक कोशिका की भित्ति को तोड़ कर, वाहक अणु से पेप्टाइड को अलग किया जाता है। इस प्रकार बनी वैक्सीन 'सब-यूनिट वैक्सीन' कहलाती है।

ऐसा नहीं है कि टीकाकरण केवल मनुष्यों के लिए ही है। बंगलौर स्थित आई आई एस सी के वैज्ञानिकों ने गो पशुओ, भेड और बकरियों को एक घातक विषाणुक रोग रिन्डरपेस्ट के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक टीका विकसित किया है। संक्रमित पशुओं को पहले तेज बुखार होता है फिर मुंह में घाव हो जाते हैं। इसके बाद अतिसार होता है और लगभग दस दिनों में ही रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। वैज्ञानिकों ने पहले इस विषाणु के सबसे अधिक रोधक्षम भाग का पता लगाया और फिर उसे एक अन्य वाहक कीट में स्थानांतरित किया। कोशिकाओं की वृद्धि के साथ साथ रिन्डरपेस्ट विषाणु की प्रोटीन बनती है। इन कोशिकाओं से इस प्रोटीन को निकाल कर रिन्डरपेस्ट वैक्सीन की तरह प्रयोग किया जाता है।

टीकाकरण के क्षेत्र में भारतीय वैज्ञानिकों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। भारतीय वैज्ञानिकों की एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि है मल्टी-वैक्सीन पद्धति। ये भी रिकम्बिनेन्ट

डी एन ए तकनीक पर ही आधारित है। इसमें एक से अधिक रोगकारकों की रोधक्षम पेप्टाइडों को एक ही वाहक में रख दिया जाता है। इस प्रकार रोगकारकों का एक विभेद तैयार हो जाता है जिसमें रोग उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। ये टीके रोगकारकों से तैयार किए गए टीकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होते हैं।

हैदराबाद स्थित नेशनल डेयरी डिवेलपमेन्ट बोर्ड के वैज्ञानिकों ने भी रिन्डरपेस्ट रोग के विरुद्ध एक वैक्सीन का परीक्षण किया है जिसमें उन्होंने चेचक के एक निर्बल विषाणु *वैक्सीनिया* का वाहक के रूप में प्रयोग किया। रिन्डरपेस्ट विषाणु के छोटे से रोधक्षम भाग को, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, डेविस के वैज्ञानिकों ने, *वैक्सीनिया* में प्रत्यारोपित किया। इस वैक्सीन का परीक्षण भारत में पहली बार किया गया। यह नई वैक्सीन, वर्तमान वैक्सीन की अपेक्षा अधिक प्रभावी और उपयोगी सिद्ध होगी।

देश की विभिन्न प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक हिपेटाइटिस बी, इन्फ्लुएंजा, रेबीज और कुछ पशु रोगों के विरुद्ध प्रतिरक्षा प्रदान करने के लिए नयी नयी वैक्सीन विकसित करने में लगे हैं। आज अनेक स्वदेशी वैक्सीन या टीके नैदानिक परीक्षणों की अवस्था में हैं और जल्दी ही बाजार में उपलब्ध होंगे। बाजार मे जल्दी ही न केवल नयी वैक्सीन उपलब्ध होंगी बल्कि उन्हें देने की नयी तकनीकों पर काम चल रहा है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षी संस्थान के वैज्ञानिक आज कल वैक्सीन देने की इन्हीं नवीन तकनीकों पर कार्यरत हैं। 'माइक्रोस्फीयर' ऐसे ही कुछ वाहक हैं जिनमें वैक्सीन उत्पादों को भरा जाता है। ये पॉलीमेरिक रचनाए छिद्रयुक्त होती हैं। ये मूल रूप से पॉलीग्लाइकॉलिक अम्ल, पॉलीलेक्टिक अम्ल और ऐसे ही अन्य पदार्थों के संयोजन से बने होते हैं। ये माइक्रोस्फीयर सुरक्षित और सुगम होते हैं। अभी इनका प्रयोगशाला परीक्षण चल रहा है। एक अन्य ड्रग डिलीवरी सिस्टम जिस पर राष्ट्रीय प्रतिरक्षी संस्थान में काम

चल रहा है, वह है लाइपोसोम तकनीक। लाइपोसोम, लिपिड के बने खोखले गोलाकार खोल होते हैं जिनके खाली स्थान मे वैक्सीन उत्पाद भरा जा सकता है।

यह कहना भी गलत होगा कि देश के केवल बड़े बड़े राष्ट्रीय संस्थान इस काम में जुटे हैं बल्कि अनेक निजी संगठन भी इस अभियान में शामिल हैं। 'रेडिक्यूरा फार्मा' ऐसी ही एक निजी संस्था है जो कम से कम संसाधनों में अधिक से अधिक उपलब्धि प्राप्त करने के प्रयास में लगी है। भारत में ओरल पोलियो वैक्सीन के उत्पादन में अग्रणी इस कम्पनी की वार्षिक उत्पादन क्षमता 200 करोड़ ओ पी वी खुराक प्रतिवर्ष है। यहां वैक्सीन का नियमन, मिश्रण और भरने का काम पूरी तरह जर्म रहित वातावरण में, कड़े परीक्षणों के बाद किया जाता है।

मनुष्य को दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्रदान करने के लिए चिकित्सा के क्षेत्र में हुयी अभूतपूर्व प्रगति के बावजूद अभी भी अनेक रोग ऐसे हैं, वैज्ञानिक जिनका हल नहीं खोज पाए हैं। ऐसा ही एक रोग है एड्स जो अभी भी दुनिया भर के वैज्ञानिकों का सिरदर्द बना हुआ है लेकिन अब वैज्ञानिकों के अनुसंधान का केन्द्र रोग की उपचारात्मक औषधि नहीं बल्कि ऐसे सुरक्षात्मक उपाय हैं जिनसे रोग को जड़ से ही मिटाया जा सके। अब वह दिन दूर नहीं है जब भारतीय वैज्ञानिक अधिकांश ज्ञात रोगों के लिए नए, प्रभावी, सुरक्षित, सस्ते और स्थायी उपचार खोज लेंगे।

अंतरिक्ष की ऊंचाइयों में

आज से तीन दशक पहले डॉ होमी जहांगीर भाभा और डॉ विक्रम साराभाई ने अंतरिक्ष कार्यक्रम की नींव रखी थी और इतने कम समय में, दर्जन भर उपग्रह बनाना और उनमें से तीन को स्वदेशी रॉकेटों की सहायता से छोड भी देना, प्रौद्योगिकी और स्रोतों की कमी जैसी बाधाओं से ग्रस्त भारत जैसे विकासशील देश के लिए कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। इनसैट-2ए, 2बी, और 2सी की सफलता ने, भूस्थैतिक उपग्रहों को बनाने जैसे उच्च तकनीकी क्षेत्र में भारतीय क्षमताओं को सिद्ध कर दिया है। आज भारतीय महासागरीय क्षेत्र में इनसैट एकमात्र ऐसे उपग्रह हैं जो मौसम से संबंधित क्षेत्रों पर लगातार नजर रख रहे हैं। पोलर सैटेलाइट लाच वेहिकिल के योजनानुसार सफल प्रक्षेपण के साथ भारत ने उपग्रहों के निर्माण के साथ साथ, अपने 1000 किलोग्राम भार वाले उपग्रहों के प्रक्षेपण की योग्यता भी प्राप्त कर ली है।

इण्डियन नेशनल कमेटी फॉर स्पेस रिसर्च के चेयरमैन डॉ विक्रम साराभाई इस बात से सहमत थे कि नवविकसित अतरिक्ष प्रौद्योगिकी, भारत जैसे आर्थिक रूप से पिछड़े देश की बहुत सी समस्याओं को हल कर सकती है। उन्होंने कहा था, 'प्रश्न इस बात का नहीं है कि भारत अंतरिक्ष अनुसंधान मे निवेश को वहन कर सकता है या नहीं बल्कि क्या वह इसमे निवेश न करने को वहन कर पाएगा।' आज भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन अंतरिक्ष विभाग के अंतर्गत अपने अनेक
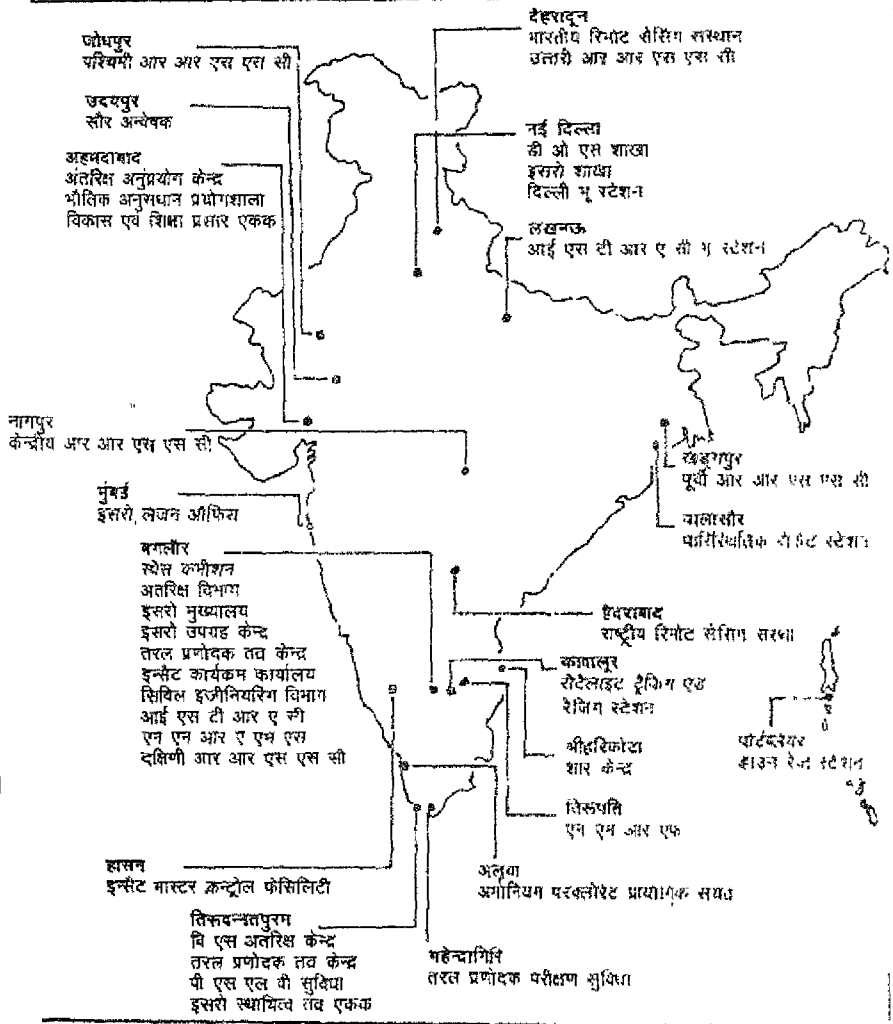
विभिन्न अंतरिक्ष केन्द्र और इकाइयां

केन्द्रों के द्वारा अंतरिक्ष से संबंधित राष्ट्रीय गतिविधियों में मुख्य भूमिका निभा रहा है जिसमें अंतरिक्ष तंत्रों का विकास, प्रक्षेपण और संचालन के साथ साथ उनका अनुप्रयोग शामिल है।

भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम का एक प्रमुख उद्देश्य इस बात पर जोर देना है कि कम से कम समय में अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी से लाभ उठाया जा सके। परिणामस्वरूप इसरो ने उपग्रह प्रक्षेपण क्षमता प्राप्त करने से पहले ही उपग्रह के निर्माण का कार्य आरंभ किया। भारत में निर्मित पहला उपग्रह, आर्यभट्ट वर्ष 1975 में सोवियत प्रक्षेपण यान की सहायता से कक्षा में स्थापित किया गया। इनके बाद कई उपग्रह छोड़े गए। उनमें से तीन को छोड़ कर सभी विदेशी प्रक्षेपण यानों द्वारा छोड़े गए थे लेकिन इससे भारतीय अंतरिक्ष वैज्ञानिकों ने उपग्रह तकनीकों का सर्वथा अनुभव प्राप्त किया। भारत के दो रिमोट सेन्सिंग उपग्रहो आइ आर एस 1ए और आइ आर एस 1बी और इनसैट क्रम के उपग्रहों की सफलता, इसके अनुभवों का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

एक अन्य क्षेत्र जिसमें भारत ने अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी का जल्दी ही उपयोग किया वह था जन शिक्षा के लिए उपग्रहों का प्रयोग। वर्ष 1975 में सैटेलाइट इन्स्ट्रक्शनल टेलीविजन एक्सपेरिमेंट नामक पहला उपग्रह आधारित टेलीविजन रिले का प्रयोग किया गया जिसने शिक्षा और सूचना प्रसारण में उपग्रह की क्षमताओं को बखूबी दर्शाया। वर्ष 1977 में दो वर्षीय सैटेलाइट टेलीकम्यूनिकेशन एक्सपेरीमेंट प्रोजेक्ट ने उपग्रह-आधारित टेलीकॉम प्रणालियों की संभावनाओं को पुन प्रदर्शित किया। इन दोनों प्रायोगिक परियोजनाओं ने इनसैट कार्यक्रम की आधार शिला रखी।

वैसे तो भारत ने 'आर्यभट्ट' के सफल प्रक्षेपण के साथ अंतरिक्ष युग में प्रवेश किया था लेकिन वास्तव में भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम का आरंभ नवम्बर 1963 में, थुम्बा में नवनिर्मित प्रक्षेपण पैड से एक छोटे अमेरिकी नाइक एपाशे
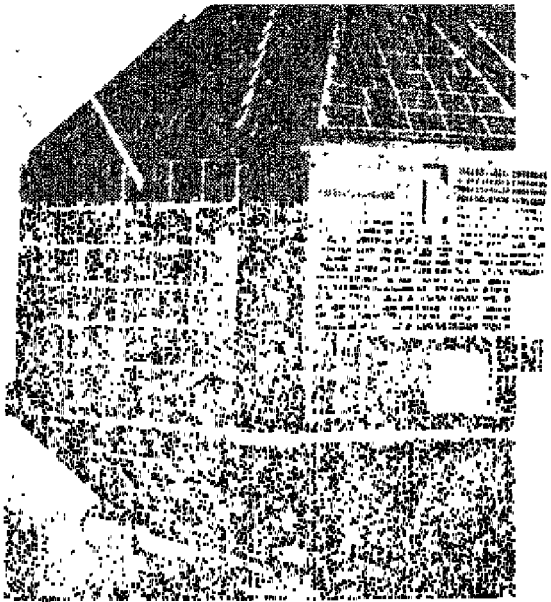
भारत का पहला उपग्रह - आर्यभट्ट

रॉकेट के प्रक्षेपण के साथ हुआ। इसका मजाक उड़ा
इसकी कल्पना भी न की होगी कि भारत एक दिन
एव जटिल प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफल
कर विकासशील राष्ट्रों में ही नहीं, विश्व में अपन
स्थान बना लेगा। वर्ष 1968 में भारतीय उपग्रह '
पृथ्वी की कक्षा में स्थापित करने के लिए जब स्व
रॉकेट विकसित करने का सुझाव दिया गया तो डॉ
अपने ही रॉकेट से अपना उपग्रह प्रक्षेपित करने के
कार्यक्रम में होने वाले विलम्ब के पक्ष मे
परिणामस्वरूप 19 मई 1972 को सोवियत संघ और
बीच एक समझौता हुआ। जिसके अन्तर्गत भारत नि
को सोवियत संघ अपने रॉकेट से प्रक्षेपित करने
इसके अनुसार 19 अप्रैल 1975 को रूसी रॉकेट इ
ने भारत के प्रथम कृत्रिम उपग्रह आर्यभट्ट को धरती
मे स्थापित किया आर्यभटट के प्रक्षेपण से भारत ने

की ओर कदम बढ़ाने के साथ साथ विश्व में ग्यारहवा
काससशील देशों में दूसरा स्थान सुरक्षित कर लिया।
र्यभट्ट की सफलता ने भारतीय वैज्ञानिकों के हौसले बढा
ोर उन्होंने एक बार फिर सोवियत संघ की सहायता से
त के प्रायोगिक भू-प्रेक्षण उपग्रह को अंतरिक्ष में छोड़ने
जना बनायी। इस तरह 'भास्कर-1' नामक उपग्रह का
कार्य आरम्भ हुआ। इसे जून 1979 को उसी रूसी
केन्द्र से प्रक्षेपित किया गया। यह उपग्रह अपने साथ दो
संवेदन नीतिभार लेकर गया था। इसकी टेलीविजन कैमरा
और माइक्रोवेव रेडियो मीटर प्रणाली ने अत्यंत महत्वपूर्ण
प्रदान किए जिनकी सहायता से बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों के

मानचित्र तैयार करना और वन विज्ञान, जल विज्ञान, हिमगलन आदि का अध्ययन कर पाना संभव हुआ। इस श्रृंखला का अगला उपग्रह 'भास्कर 2' 20 नवम्बर 1981 को छोड़ा गया। इसके सभी यंत्रों, दोनों टेलीविजन कैमरों एवं तीनों माइक्रोवेव रेडियो मीटरों ने सुचारू रूप से काम किया और आंकड़े उपलब्ध कराए।

भारतीय अंतरिक्ष विकास कार्यक्रम में एक महत्वपूर्ण मोड़ वर्ष 1981 में उस समय आया जब प्रथम स्वदेशी भूस्थैतिक उपग्रह एप्पल को यूरोपीय स्पेस एजेंसी के एरियन रॉकेट द्वारा सफलतापूर्वक प्रक्षेपित किया गया। लेकिन एप्पल केवल एक प्रायोगिक उपग्रह था। इसका प्रमुख कार्य था टी वी और रेडियो नेटवर्किंग द्वारा संचार सुविधा उपलब्ध कराना।

पूर्णतया घरेलू उपयोग के लिए पहला भूस्थैतिक उपग्रह इनसैट 1बी था जिसने 1983 में काम करना शुरू किया। भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह प्रणाली अर्थात इनसैट, एक बहुउद्देशीय उपग्रह प्रणाली है जो घरेलू दूर संचार सेवा के अन्तर्गत ग्रामीण समुदायों को सीधा दूरदर्शन प्रसारण उपलब्ध कराती है। इसकी दूसरी विशषता है मौसम संबंधी आंकड़े उपलब्ध कराना जिसके अन्तर्गत समुद्री क्षेत्रों में चक्रवात, समुद्री सतहों और बादलों के ऊपर का तापमान, जल निकायो, हिम आदि के मानचित्र शामिल हैं।

इससे पहले 1982 में नई दिल्ली में होने वाले एशियाड से पहले इनसैट प्रणाली को चालू करने के उद्देश्य से इनसैट 1ए को छोड़ा गया था लेकिन अंततः इसने काम नहीं किया। इनसैट 1 श्रृंखला के चारों उपग्रहों इनसैट 1ए, इनसैट 1बी, इनसैट 1सी और इनसैट 1डी के निर्माण का उत्तरदायित्व फोर्ड एयरोस्पेस नामक अमेरिकी फर्म को दिया गया। इनमें से केवल दो, इनसैट 1बी और इनसैट 1डी ने ही ठीक से काम किया, जबकि शेष दो किन्हीं तकनीकी खराबियों के कारण अंतरिक्ष में ही निष्क्रिय हो गए। इस श्रृंखला का अंतिम उपग्रह इनसैट

उपग्रहों से कई प्रकार से उन्नत तो था ही साथ
भी था क्यों कि इसकी सफलता पर ही इनसैट
अगली परियोजना का भविष्य निर्धारित होना था।
शृंखला की दूसरी पीढ़ी अस्तित्व में आ चुकी है।
में कुछ अंतर है। सबसे पहला अंतर तो यही है
शृंखला के सभी उपग्रह देश में ही निर्मित हैं। ये
के उपग्रहों की अपेक्षा अधिक सक्षम और जटिल
इसरो के चार प्रमुख केन्द्रों के वैज्ञानिकों के मिले
का प्रतिफल है। उपग्रह के प्रमुख ढांचे जिसमें
ामिट्रीक और टैलीकमांड, विस्तारक और पावर
हैं, का निर्माण बंगलौर के इसरो उपग्रह केन्द्र में
क तरह से यहां परियोजना का मुख्य केन्द्र है।
कक्षा में स्थिर बनाए रखने के लिए आवश्यक
। निर्माण विक्रम साराभाई अंतरिक्ष केन्द्र,
। में हुआ। वेरी हाई रिजोल्यूशन रेडियो मीटर के
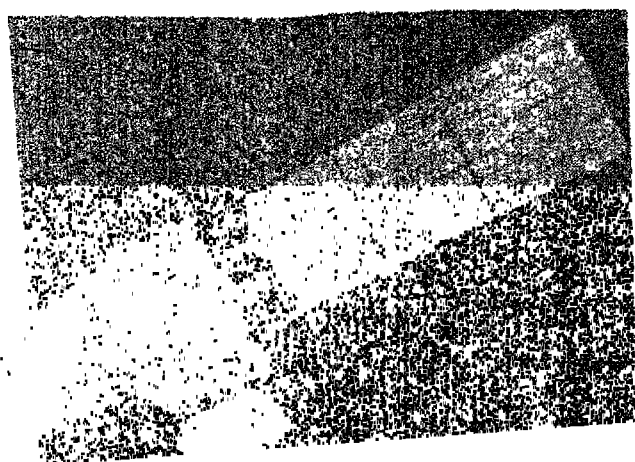
ए एन्टीना परावर्तक और स्कैनिंग युक्तियों के
त्तरदायित्व भी यहीं के वैज्ञानिकों पर है। यह
मुख मौसम संबंधी नीतिभार है। स्वयं वी एच
हमदाबाद स्थित स्पेस एप्लीकेश सेन्टर की देन
न्सपॉन्डरों का निर्माण कार्य भी यहीं सम्पन्न होता
इन उपग्रहों के अन्य आवश्यक घटक हैं
स्थैतिक कक्षा में ले जाने वाला एजॉजी बूस्ट
ग्रह को कक्षा में बनाए रखने वाला प्रणोदक।
ा दायित्व संभाल रखा है तिरूवनन्तपुरम के लिक्वि
स्टम्स सेन्टर ने। यद्यपि इन उपग्रहों को यू
जेसी के एरियन रॉकेट द्वारा प्रक्षेपित किया गया
ड़े जाने से लेकर भूस्थैतिक कक्षा में स्थापित कर

आई आर एस पी 3 कक्षा मे

कठिन नियंत्रण कार्य को कर्नाटक में हासन स्थित मास्टर कन्ट्रोल फेसिलिटी के वैज्ञानिक संभालते हैं। यह कार्य किसी चुनौती से कम नहीं होता।

स्वदेश में निर्मित दूसरी पीढ़ी के पहले उपग्रह इनसैट 2ए को जुलाई 1992 में प्रक्षेपित किया गया, इनसैट 2बी को 1993 में, इनसैट 2सी को 1995 में और इनसैट 2डी को इसी वर्ष 1998 में छोड़ा गया। इनमें से इनसैट 2डी को छोड़ कर सभी अबाध रूप से काम कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप आज हम घर बैठे ही दुनिया के किसी कोने पर हो रही विभिन्न घटनाओं या कार्यक्रमों में भाग ले सकते हैं।

इसमें कुछ व्यवधान तब आया जब इनसैट 2डी को कुछ तकनीकी खराबियों के कारण हाल में ही बेकार घोषित करना पड़ा। लेकिन इससे भारतीय वैज्ञानिकों के उपग्रह निर्माण के क्षेत्र में अर्जित आत्मविश्वास में कोई कमी नहीं आयी है। आशा है कि इनसैट 2ए और 2बी सन् 2003 तक सेवा उपलब्ध कराते रहेंगे। इनसैट 2सी और इनसैट 2डी को मुख्य रूप से संचार सेवाएं ही उपलब्ध करानी थी किन्तु अब यह दायित्व अकेले इनसैट 2सी पर ही आ गया है। आगे जाने वाला इनसैट 2ई, मौसम संबंधी पैलोड के रूप में वी एच आर आर का उन्नत रूपान्तर लेकर जाएगा। हालांकि अभी इन्सैट उपग्रहों की दूसरी पीढ़ी के एक उपग्रह का प्रक्षेपण शेष है किन्तु इस श्रृंखला की तीसरी पीढ़ी की रूपरेखा तैयार हो चुकी है।

एक ओर इनसैट श्रृंखला की दूसरी पीढ़ी के उपग्रहों के सफल प्रक्षेपण ने उपग्रह प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारतीय विशेषज्ञता को प्रमाणित किया है लेकिन जहां तक प्रक्षेपण यानो का संबंध है, ऐसा ही कुछ यकीन से कह पाना कठिन है। हालांकि चार चरणी उपग्रह प्रक्षेपण यान विकास कार्यक्रम के तीन चरण - एस एल वी 3, ए एस एल वी और पी एस एल वी पूरे किए जा चुके हैं भारी भरकम 128 टन ठोस

प्रणोदक अवस्था वाले पी एस एल वी को लगभग 1000 किलोग्राम भार वाले रिमोट सेन्सिंग सैटेलाइट को सौर तुल्यकालिक ध्रुव कक्षा में स्थापित करने के उद्देश्य से बनाया गया है। पी एस एल वी की पहली अवस्था, अमेरिकी टाइटन और स्पेस शटल के बाद, विश्व में तीसरी सबसे विशाल सॉलिड बूस्टर है। इसके निर्माण में भारतीय उद्योगों जैसे मिश्र धातु निगम, हैदराबाद; गोदरेज एवं बॉयस, मुंबई; एम टी ए आर, हैदराबाद; हिन्दुस्तान आर्गेनिक्स आदि ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

पी एस एल वी श्रृंखला के यानों की दो सफल उड़ाने 1994 और 1996 में पूरी हुयी। 1994 में पी एस एल वी प्रक्षेपण यान से 900 किलोग्राम भार का दूरसंवेदी उपग्रह आई आर एस पी 2 अंतरिक्ष में वांछित कक्षा में छोड़ा गया था। इसके बाद 1996 में 922 किलोग्राम भारी दूरसंवेदी उपग्रह आई आर एस पी 3 को अंतरिक्ष में 817 किलामीटर ऊंचाई पर स्थित ध्रुवीय कक्षा में छोड़ा गया। इन सफल उड़ानों ने भावी सफल उड़ानों का रास्ता खोल दिया। हाल में ही 29 अक्तूबर 1997 को पी एस एल वी सी-1 की सफल उड़ान ने जहां एक ओर विकसित देशों को चौंका दिया है तो वहीं दूसरी ओर विकासशील देशों के लिए एक नई आशा का संचार किया है। देश में ही बने पहले व्यावहारिक यान की यह एक ऐसी उड़ान है जिसने भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा देश में ही बने आई आर एस श्रृंखला के उपग्रह आई आर एस डी को अंतरिक्ष में पहुंचा दिया है। जी एस एल वी के लिए एक अलग तरह के इंजन की जरूरत है जिसे क्रायोजेनिक इंजन कहते हैं। पी एस एल वी में प्रयोग किए जाने वाले इंजन 'विकास' के विपरीत, ऐसे प्रणोदक का प्रयोग किया जाता है जो सामान्य तापक्रम पर तरल अवस्था में रहता है। क्रायोजेनिक इंजन में तरल ऑक्सीजन और तरल हाइड्रोजन का प्रयोग प्रणोदक के रूप मे किया जाता है जिन्हे बहुत कम ताप पर संग्रहीत
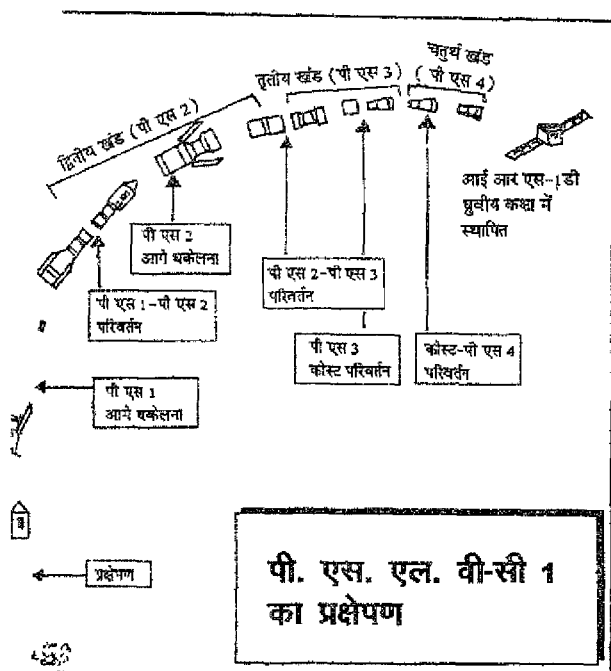
पी एस एल वी - सी1 का प्रक्षेपण

सकता है। जी एस एल वी की तीसरी अवस्था में
इंजन का प्रयोग किया जाएगा। मूल योजना के
स क्रायोजेनिक इंजन और प्रौद्योगिकी का, रूसी स्पेस
ग्लवकॉस्मास से आयात होना था। किन्तु मिसाइल
कन्ट्रोल रेर्जीम द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों के
अब इसरो ने अपना क्रायोजेनिक इंजन बनाने का
आरंभ किया है। इस वर्ष इसकी एल 4 अवस्था का
। परीक्षण किया गया। इसका पहला प्रायोगिक परीक्षण
त वर्ष के अंत तक या अगले वर्ष किए जाने की
है। यह प्रक्षेपण यान 2,500 किलोग्राम भार के संचार
में भू-स्थैतिक स्थानांतरण कक्षा में स्थापित करने में

सक्षम होगा। इनसैट श्रृंखला के अगले उपग्रह इनसैट 2ई को भी जी एस एल वी से छोड़ने की योजना बनाई गई है।

इस प्रक्षेपण यान की ऊंचाई 50 मीटर और भार 400 टन होगा। यान के प्रथम चरण में पी एस एल वी की तरह ही 129 टन का प्रणोदक बूस्टर होगा। साथ में 4 द्रव प्रणोदक होंगे। इनमें से प्रत्येक 40 टन प्रणोदक वहन करेगा। दूसरे चरण में 37.5 टन प्रणोदक ले जाने वाला द्रव प्रणोदक होगा। तीसरे चरण में पुनः चालू होने वाला क्रायोजेनिक इंजन होगा जो 12 टन द्रव ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन ईंधन ले जाएगा। इस रॉकेट में 3.4 मीटर व्यास का ताप कवच होगा।

भारत अंतरिक्ष अनुसंधान की प्रथम पंक्ति में तो उसी दिन आ गया था जिस दिन उसने अपना पहला उपग्रह आर्यभट्ट छोड़ा था लेकिन यह सुदूर संवेदन अर्थात रिमोट सेन्सिंग उपग्रह नहीं था। वास्तव में भारत में सुदूर संवेदन की पृष्ठभूमि आर्यभट्ट और भास्कर आदि उपग्रहों के प्रक्षेपण के साथ ही बननी शुरू हो गयी थी। भास्कर 1 अपने साथ दो प्रमुख सुदूर संवेदन नीतिभार लेकर गया था। इससे प्राप्त अनुभवों के आधार पर आई आर एस उपग्रह श्रृंखला के कुल पांच उपग्रह यथा आई आर एस 1ए (मार्च 1988), आई आर एस 1बी (अगस्त 1991), आई आर 'एस 1सी (दिसम्बर 1995), आई आर एस पी 2 अक्तूबर (1994) और आई आर एस पी3 (मार्च 1996) प्रक्षेपित किए जा चुके हैं। आई आर एस पी 4 और पी5 जल्दी ही प्रक्षेपित किए जाने के लिए तैयार हैं। आई आर एस पी 44 को 'ओसियन सेट 1' उपग्रह कहा जाएगा। यह समुद्री लहरों, समुद्री हवाओं तथा समुद्रों के रंग तथा तापमान के बारे में जानकारी देगा। सुदूर संवेदन उपग्रहो मे लगे विशेष शक्तिशाली कैमरों 'लिस' (लीनियर इमेजिंग सेल्फ स्कैनिंग सेनर्स) के जरिए एक वहुत बड़े भू-भाग के चित्र प्राप्त होते हैं। इन उपग्रहों से प्राप्त आंकडों को ग्रहण करने के लिए हैदराबाद के निकट एक भू-केन्द्र स्थापित किया गया है इन

भारतीय उपग्रह

उपग्रह	दिनांक	प्रतिफल
आर्यभट्ट	19 मार्च 1975	सफल
भास्कर 1	7 जून 1978	सफल
रोहिणी	10 अगस्त 1979	असफल
रोहिणी	18 जुलाई 1980	सफल
एप्पल	19 जून 1981	सफल
भास्कर 2	20 नवम्बर 1981	सफल
रोहिणी	31 मई 1981	असफल
इनसैट 1ए	10 जुलाई 1982	असफल
रोहिणी	17 अप्रैल 1983	सफल
इनसैट 1बी	30 अगस्त 1983	सफल
स्रास 1	24 मार्च 1987	असफल
आई आर एस 1ए	19 मार्च 1988	सफल
स्रास 2	13 जुलाई 1988	असफल
इनसैट 1सी	22 जुलाई 1988	असफल
इनसैट 1डी	12 जुलाई 1990	सफल
आई आर एस1बी	29 अगस्त 1991	सफल
स्रास 3	19 मई 1992	सफल
इनसैट 2ए	10 जुलाई 1992	सफल
इनसैट 2बी	23 जुलाई 1993	सफल
आई आर एस पी2	15 अक्तूबर 1994	सफल
इनसैट 2सी	7 दिसम्बर 1995	सफल
आई आर एस 1सी	28 जनवरी 1996	सफल
आई आर एस पी3	21 मार्च 1996	सफल
इनसैट 2डी	7 जून 1997	असफल

आकड़ों का विश्लेषण देहरादून स्थित संस्थान में किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पांच क्षेत्रीय सुदूर संवेदन सेवा केन्द्र क्रमशः देहरादून, बंगलौर, नागपुर, खड़गपुर और जोधपुर मे स्थापित किए गए हैं। इन उपग्रहों में लगे सुदूर संवेदन उपकरण हर मौसम में काम करने की क्षमता रखते हैं। इनसे प्राप्त सूचनाओं के आधार पर समुद्री सतह का तापमान, सामुद्रिक स्थिति, किसी क्षेत्र में जलवाष्प की मात्रा व बाढ़ आने, बर्फ गिरने व पिघलने जैसी घटनाओं का व्यापक अध्ययन कर पाना संभव हुआ है। इसके अतिरिक्त इनसे प्राप्त चित्रों और आंकड़ों के आधार पर कृषि वानिकी, जल विज्ञान, फसलों का आकलन, भूमि वर्गीकरण, भूमि विश्लेषण, मरुस्थल का विस्तार, पैट्रोलियम और खनिजों की खोज, भू-अपरदन मॉनीटरन, शहरी भूमि का उपयोग एवं प्रदूषण अध्ययन आदि किया जा रहा है जो राष्ट्रीय विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनके उच्च क्षमता वाले पैंक्रोमेटिक कैमरे 5-6 वर्ग मीटर क्षेत्र तक के चित्र भेज सकते हैं। ये लडाकू विमानों, प्रक्षेपास्त्रों, युद्ध तोपों और युद्ध की तैयारियो की तस्वीरें भी भेज सकते हैं। इन तस्वीरों के आधार पर कम्प्यूटर से दुश्मन के इलाके के मानचित्र बनाए जा सकते हैं। इस प्रकार दूरसंवेदी उपग्रहों का उपयोग जासूसी तथा सेना के लिए भी किया जा सकता है।

आर्यभट्ट से लेकर भास्कर, एप्पल, आई आर एस, और इनसैट तक की सफलताओं को भारतीय अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मील का पत्थर कहा जा सकता है। इनसैट श्रृंखला के दूसरी पीढ़ी के स्वदेश में ही निर्मित उपग्रह सफलतापूर्वक छोड़े जा चुके हैं और तीसरी पीढ़ी की रूपरेखा तैयार हो चुकी है। भारत ने अपना पहला रॉकेट सोवियत संघ की मदद से छोडा था लेकिन अब तीन भारतीय उपग्रह स्वयं अपने प्रक्षेपण यानों से छोडे जा चुके हैं एक दिन जब डॉ विक्रम साराभाई ने आर्थिक रूप से पिछडे भारत जैसे देश की अनेक समस्याओ

का समाधान नवविकसित अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी बताया था तब लोगों को भले ही उनके कथन पर विश्वास न हुआ हो लेकिन आज इसकी सार्थकता सर्वविदित है।

आज इन उपग्रहों ने दूरदराज के क्षेत्रों को आपस में जोड़ दिया है। हिमालय की बर्फ की ठंडक और रेगिस्तान की गर्मी को अपने ड्राइंग रूम में टी वी के सामने बैठे बैठे महसूस कर सकते हैं। पलक झपकते ही हजारों मील दूर बैठे किसी भी प्रियजन से बात कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उपग्रह दिन रात मौसम की निगरानी करने के साथ साथ समय रहते किसानों को फसलों में लगने वाली बीमारियों और मछुआरों को खुले समुद्र में मछलियों की सूचना देते हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि इन अंतरिक्ष प्रणालियों ने मानव की जीवनशैली मे क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है।

शांतिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु ऊर्जा

भारत ने परमाणु ऊर्जा के महत्व को लगभग 53 वर्ष पहले 1944 में अनुभव किया था। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, जब लोगों ने परमाणु ऊर्जा का विध्वंसक रूप देखा था, भारत केवल आर्थिक विकास के लिए परमाणु ऊर्जा के उपयोग के विषय में सोच रहा था। यद्यपि देश में परमाणु ऊर्जा से संबंधित आधारभूत अनुसंधान 1945 में टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फन्डामेंटल रिसर्च की स्थापना के साथ ही आरम्भ हो चुका था लेकिन वास्तव में भारतीय परमाणु कार्यक्रम का विधिवत आरम्भ स्वतन्त्रता प्राप्ति के ठीक एक वर्ष बाद, 1948 में परमाणु ऊर्जा कमीशन की स्थापना के साथ हुआ। परमाणु ऊर्जा एक्ट, 1948 के अनुसार इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य, परमाणु ऊर्जा का एकमात्र उपयोग शांतिपूर्ण कार्यों के लिए करना था। ये कार्य थे बिजली उत्पादन और कृषि, उद्योग, चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में परमाणु ऊर्जा के विभिन्न अभिगमों का विकास करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयासों का ही परिणाम है कि आज हम परमाणु ऊर्जा उत्पादन के विभिन्न पक्षों यथा यूरेनियम पूर्वेक्षण से लेकर यूरेनियम खनन ससाधन ईंधन उत्पादन रिएक्टर

बड़ी बाधा बिजली की कमी रही है। इस कमी को के लिए परमाणु ऊर्जा से काफी आशा बंधी।

परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम पर एक नजर

दशक के अंत में विद्युत उत्पादन के लिए पर
पयोग का निर्णय लिया गया और 1969 में
तारापुर में 210 M We क्षमता वाले दो
रों वाले पहले परमाणु ऊर्जा संयंत्र की स्थापना
पावर स्टेशन राजस्थान में कोटा के निकट स्था
जिसकी दो इकाइयां थीं। पहली इकाई ने 1972
इकाई ने 1980 में काम करना आरंभ किय
स्टेशन मद्रास के निकट कल्पक्कम में और चौ
में नरौरा में स्थापित किया गया।
कि भारत में थोरियम काफी मात्रा में उपलब्ध
अपेक्षा यूरेनियम निक्षेपों की मात्रा कम है इस
में प्राकृतिक यूरेनियम रिएक्टरों और दूसरे चरण

रिएक्टरों की स्थापना करना निश्चित हुआ जिस
से प्राप्त प्लूटोनियम का प्रयोग किया जा सके औ
रियम का प्रयोग आवरण की तरह किया जा सवे
ौजूद यूरेनियम भंडार 5000-8000 M We तक
र्यक्रम के लिए आपूर्ति की क्षमता रखते हैं। हाल
ए सर्वेक्षणों में देखा गया कि यहां मौजूद भंड
बडे थर्मल रिएक्टर कार्यक्रम को सफलतापूर्व
ने की क्षमता रखते हैं।
। स्थापित पहला परमाणु ऊर्जा संयंत्र बॉयलिंग वाट
ा जिसे टर्न-की के आधार पर स्थापित किया गय
द्देश्य मुख्य रूप से परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र
ताओं को सिद्ध करने के साथ साथ परमाणु संय
और रख-रखाव में दक्षता प्राप्त करना था।
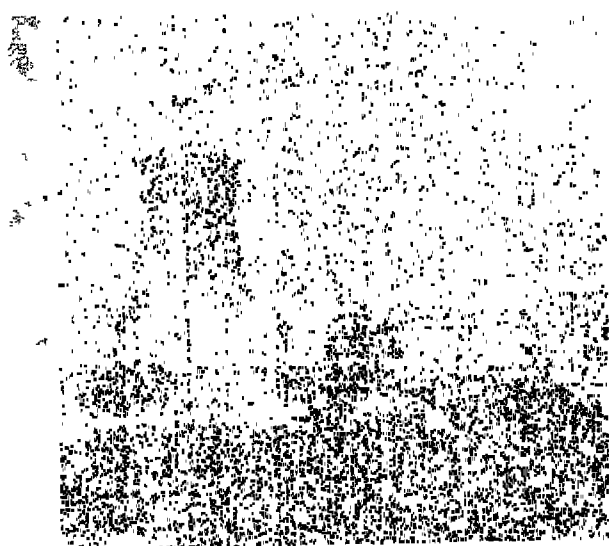
कलपक्कम परमाण ऊर्जा संयंत्र

ध्रुव और सायरस

चरण में प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त यूरेनियम
रिएक्टरों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य
का चुनाव करना था जिसे स्वदेश में ही उ
चालित किया जा सके और जिसके मुख्य घटक
निर्मित हों। इसके अतिरिक्त हेवी वाटर रि
लाभ यह भी था कि ये विखंडित पदार्थों का उ
क्षम होते हैं।

जस्थान में स्थापित दूसरा परमाणु ऊर्जा केन्द्र व
के समन्वित प्रयासों का परिणाम था जिसव
के साथ साथ पहली इकाई के सभी उपकरण
प्रदान किए थे। लेकिन मद्रास में स्थापित तीस
केन्द्र के साथ ही भारतीय इंजीनियरों ने इसके
ार्यभार स्वयं ही संभाला। इस केन्द्र में अनेक
ान किए गए। नरौरा में स्थापित चौथे केन्द्र क

तरह ही नवीनीकरण कर दिया गया। भारतीय इंजीनियरों के बढते दायित्व को देखते हुए 1967 में पावर प्रोजेक्ट्स इंजीनियरिंग डिवीजन बनाया गया। आदि से लेकर अंत तक सभी परमाणु ऊर्जा परियोजनाओं का कार्यान्वयन इसी अनुभाग द्वारा होता है।

एक और क्षेत्र जिस ओर आरंभ से ही ध्यान दिया गया वह था इन्स्ट्रूमेंटेशन और कन्ट्रोल। यहां तक कि 1956 में स्थापित पहले अनुसंधान रिएक्टर की सुरक्षा और नियंत्रण के लिए भी स्वदेशी उपकरणों का प्रयोग किया गया था। पहले परमाणु ऊर्जा केन्द्र के लिए मुख्य नियंत्रण पैनलों की आपूर्ति भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के इलैक्ट्रानिक ग्रुप ने की थी। इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय विकास थे राजस्थान स्थित केन्द्र में स्थापित कम्प्यूटरीकृत तापक्रम मॉनिटरिंग सिस्टम और मद्रास स्थित केन्द्र के लिए डाटा अधिग्रहण सिस्टम और नरौरा केन्द्र के लिए ऑन-लाइन कम्प्यूटर कन्ट्रोल सिस्टम तथा ऑन-पावर फ्यूलिंग सिस्टम।

इसी बीच पांचवें दशक में भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में एक 40 मेगावाट क्षमता वाले रिएक्टर, सायरस की स्थापना की गयी, जिसका मूल रूप से नाम था कनाडा इन्डिया रिएक्टर। इसने 10 जुलाई 1960 से काम करना आरंभ किया। सायरस को भारतीय परमाणु कार्यक्रम की धुरी कहा जा सकता है। जहां इसमें अनेक प्रयोगात्मक सुविधाएं उपलब्ध हैं वहीं परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम से जुड़े अनेक कर्मियों ने यहां प्रशिक्षण पाया है। इसका अधिकतम तापीय न्यूट्रान फ्लक्स 6.7×10^{13} न्यू/वर्ग सेमी/सेकेंड है। इसमें ईंधन के रूप में प्राकृतिक यूरेनियम, विमंदक के रूप में भारी जल, परिवर्तक के रूप में ग्रेफाइट और हल्के जल का प्रयोग शीतलक के रूप में किया जाता है। प्राकृतिक यूरेनियम ईंधन की छड़ें, ठोस सिलन्डरों के रूप में होती हैं।

शोध और विकासात्मक क्षमताओं को बढ़ाने के उद्देश्य से सातवें दशक में एक अन्य उच्च फलक्स शोध रिएक्टर की रूपरेखा बनायी गयी जिसका मुख्य उद्देश्य अनुसंधानकर्ताओं को नियमित रूप से न्यूट्रान और परमाण्विक केन्द्रक बनाने वाले निष्क्रिय उप-परमाण्विक कण उपलब्ध कराना था। 8 अगस्त 1985 को 100 मेगावाट क्षमता वाले ध्रुव रिएक्टर ने काम करना आरम्भ कर दिया। परमाणु वैज्ञानिकों की आत्मनिर्भरता का प्रतीक, पूरी तरह स्वदेश में ही अभिकल्पित और निर्मित यह रिएक्टर भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के सभी परमाणु रिएक्टरों में सबसे बड़ा है। पहले इस परियोजना का नाम आर-5 रखा गया था लेकिन बाद में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने इसे ध्रुव का नाम दिया। इसका तापीय न्यूट्रान फ्लक्स 1.8×10^{14} न्यू/वर्ग सेमी/सेकेंड है और इसमें ईंधन के रूप में प्राकृतिक यूरेनियम और विमंदक एव परिवर्तक के रूप में भारी जल का प्रयोग किया जाता है। आज इसका उपयोग अनुसंधान के साथ साथ आइसोटोप उत्पादन के लिए किया जा रहा है। ध्रुव रिएक्टर एक राष्ट्रीय सुविधा है और यहां कोई भी इन सुविधाओं का लाभ उठा सकता है।

आज आइसोटोप उत्पादन के लिए इसका व्यापक उपयोग किया जा रहा है। ये आइसोटोप चिकित्सा, कृषि और उद्योग मे अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इन आइसोटोपों का उपयोग अनेक रोगों के निदान के लिए किया जाता है। टेक्नीटियम-99 एम, आयोडीन-131, मॉलिब्डेनम-99, क्रोमियम-51 और कोबाल्ट-60, और उनके उत्पादों को 200 से अधिक मेडीकल कॉलेजो में नियमित उपयोग के लिए दिया जा चुका है। ये ऑर्गन इमेजिंग, तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं के अध्ययन में सहायक होते हैं। विकिरण उपचार के क्षेत्र मे आयोडीन-131 का उपयोग, थायरॉयड संबंधी रोगों के इलाज के

क किया जा रहा है। इसी प्रकार कैंसरी अर्बुदों
और स्वर्ण-198 के कणों, इरीडियम-192 के
चार, एक पूरी तरह स्थापित प्रक्रिया बन चुकी

ाइसोटोपों ने उत्परिवर्तन द्वारा खाद्यान्नों की नयी
स्में बनाने में योगदान दिया है। विभिन्न फसलों
विकिरित किया गया और लाभदायक गुणों वाले
ान के लिए चुन लिया गया। रेडियोआइसोटोप
ों का प्रयोग पौधों में उर्वरकों की आवश्यकता
के लिए किया गया। इस समय देश में 900
स्थान विभिन्न प्रकार के अध्ययनों के लिए
प्रयोग कर रहे हैं।
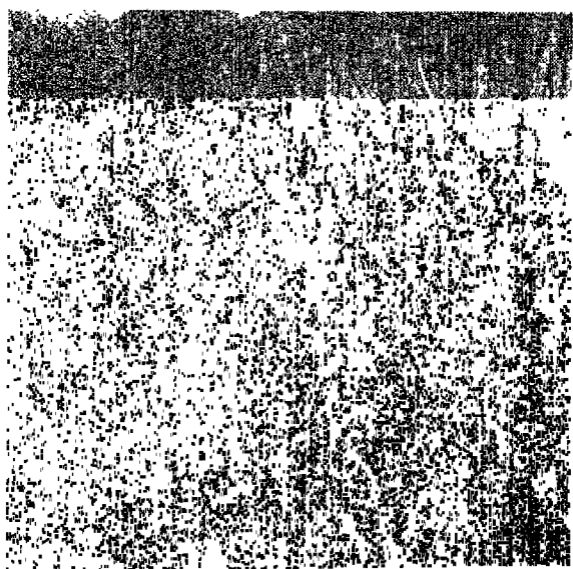
द्वारा बी ए आर सी विकसित धान की नई किस्म
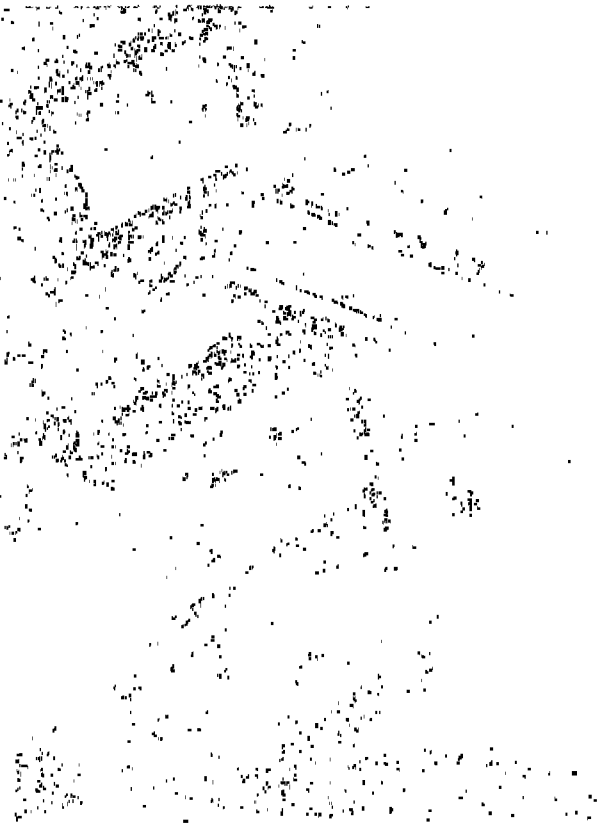
विकिरणन द्वारा जर्मरहित बनाए गए मेडिकल उत्पाद

विकास का अगला चरण था फास्ट ब्रीडर कार्यक्रम
श्य बड़ी मात्रा में मौजूद थोरियम के विशाल भंड
ोग कर परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम को आगे बढ़ाना १
'4 में वैज्ञानिकों की एक बड़ी सफलता थी पूर्णिम
ना। इस उपलब्धि ने थोरियम को ^{233}U को [2]
न सकने की संभावनाओं के द्वार खोल दिए क्योंकि
क्टर में प्रयोग किए जाने वाले ईंधनों में प्रमुख
र देश में परमाणु ऊर्जा के उत्पादन के लिए, देश
ब्ध खनिज भंडारों के उपयोग की दिशा में, पूर्णिम

कदम कहा जा सकता है। एक अन्य ^{233}U द्वारा संचालित शून्य ऊर्जा शोध रिएक्टर कामिनी, मद्रास के निकट कल्पक्कम में इंदिरा गांधी सेन्टर फॉर एटॉमिक रिसर्च, में स्थापित किया गया है। यहां घटकों और पदार्थों के अ-विखण्डित परीक्षण के लिए न्यूट्रान रेडियोग्राफी सुविधा उपलब्ध है।

फास्ट ब्रीडर टेस्ट रिएक्टर को आई जी सी ए आर के वैज्ञानिकों की एक और बड़ी सफलता कहा जा सकता है बल्कि इसे भारत के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम का दूसरा चरण भी कहा जा सकता है। वर्ष 1985 में स्थापित यह रिएक्टर भारत का पहला रिएक्टर है जिसमें पिघले हुए सोडियम का प्रयोग शीतलक के रूप में किया जाता है। यद्यपि इसका डिजायन फ्रेंच फास्ट ब्रीडर रिएक्टर रैपसोडी से मिलती जुलती है लेकिन इसमें एक सोडियम-ऊष्मित स्टीम जेनेरेटर होता जो फ्रेंच जेनेरेटर में नहीं होता। इसकी सफलता से प्रेरित होकर, आई जी सी ए आर के वैज्ञानिक अब इसकी क्षमता 10.5 मेगावाट तक बढ़ाने के साथ साथ बिजली उत्पादन का भी प्रयास कर रहे हैं। वैज्ञानिकों को आशा है कि जल्दी ही इसकी क्षमता को 13 MW तक बढ़ाना संभव हो सकेगा।

तारापुर, कोटा, कलपक्कम और नरौरा में स्थित पारम्परिक यूरेनियम संचालित और हेवी वाटर रिएक्टरों की तुलना में एफ बी टी आर एक बिल्कुल नयी संकल्पना है। इसमें न्यूट्रानों की गति कम करने के लिए किसी नियामक का प्रयोग नहीं किया जाता। इसकी कोर के अधिक ठोस होने के कारण यहां ऊर्जा का घनत्व सबसे अधिक होता है। इसे फास्ट ब्रीडर इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें विघटन के लिए न्यूट्रानों का प्रयोग बिना नियामक के किया जाता है और प्रयिा के दौरान ये उत्पादित या 'प्रजनित' होते हैं। चूंकि सोडियम बहुत तेजी से जल से क्रिया करता है इसलिए इसका पूरा ध्यान रखा जाता है कि इनका परस्पर संपर्क न होने पाए।

भारत में इस कार्यक्रम को आरम्भ करने का एकमात्र उद्देश्य, अपने यहां मौजूद यूरेनियम के सीमित भंडार का समुचित उपयोग करना था जिसका 99 प्रतिशत ^{238}U है जिसे प्रयोग करने से पहले ^{239}U में बदलना पड़ता है। आजकल एफ बी टी आर में स्वदेश में ही निर्मित यूरेनियम प्लूटोनियम कार्बाइड ईंधन का प्रयोग किया जा रहा है। एक वर्ष से भी कम समय में पूरी तरह स्वदेशी स्रोतों से इस नवीन ईंधन का विकास, परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में पूरी तरह आत्मनिर्भर होने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। एफ बी टी आर की सफलता ने भारत के परमाणु वैज्ञानिकों को ब्रीडर कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए असीम आत्मविश्वास प्रदान किया है और उन्होंने दिखा दिया है कि यदि उन्हें वांछित सहयोग मिलता रहे तो वे असंभव को भी संभव बनाने की क्षमता रखते हैं।

परमाणु ऊर्जा के उत्पादन के क्षेत्र में अप्सरा, सायरस, ध्रुव, पूर्णिमा और एफ बी टी आर के रूप में मिली सफलताओं ने न केवल भारतीय वैज्ञानिकों की क्षमताओं को सिद्ध किया है बल्कि भारत को उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकसित देशों के समकक्ष ला खड़ा किया है।

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए

पंडित जवाहर लाल नेहरू का कहना था, 'कोई भी देश सही मायनों में तब तक स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता, जब तक वह अपनी सुरक्षा व्यवस्था में आत्मनिर्भर नहीं है।' उनकी इसी सोच का परिणाम है कि आज हमारा देश सुरक्षा उपकरणों के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ गया है कि विश्व मे एक उदाहरण बन गया है। 1962 में चीन के आक्रमण के समय देश को जिस परिस्थिति का सामना करना पड़ा तथा 1985 में देश की सुरक्षा के लिए विदेशों से सैन्य उपकरण प्राप्त करने में हुयी कठिनाइयों और प्रतिबंधों को देखते हुए रक्षा वैज्ञानिकों और सैन्य अधिकारियों के लिए रक्षा के क्षेत्र मे जल्दी से जल्दी आत्मनिर्भरता प्राप्त करना जरूरी हो गया। इसका एक और लाभ यह भी है कि सैन्य उपकरणों के आयात पर खर्च होने वाली मुद्रा को भी बचाया जा सकता है। आज अनेक आयुध प्रयोगशालाएं सेनाओं की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयास में जुटी हुयी है।

इसी उद्देश्य को सामने रख कर वर्ष 1958 में रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन की स्थापना की गयी जिसका मुख्य लक्ष्य सेनाओं की आवश्यकता संबंधी प्रौद्योगिकी का विकास करना है। सत्तर के दशक में यहां अनेक परियोजनाएं आरम्भ की गयीं - जैसे कि इन्टीग्रेट गाइडेड मिसाइल डिवेलपमेंट प्रोग्राम, बहुउद्देशीय क्षमताओं वाले हल्के लड़ाकू विमान, हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों में ऊंचाई पर कार्य करने की क्षमता वाले एडवान्स्ड लाइट हेलीकॉप्टर्स और प्रमुख लड़ाकू
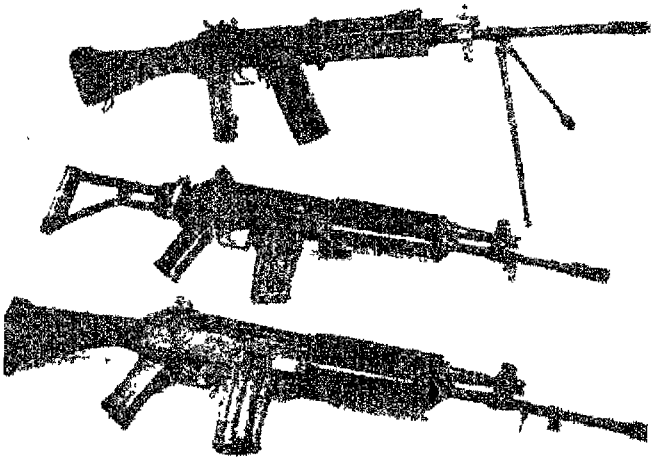
ए. आर. डी. ए, पुणे द्वारा निर्मित लाइट मशीन गन

डिफेन्स फूड लेबोरेट्री, मैसूर के वैज्ञानिकों द्वारा तैयार
रेडी टू ईट पैकेज

वाहन अर्जुन ये सभी परियोजनाए फड की कमी के बावजूद सुचारू रूप से प्रगति पर हैं।

भारत को कुछ समय पहले तक मिसाइलों के लिए रूस, फ्रांस और इंग्लैंड जैसे देशों पर निर्भर रहना पड़ता था। जहां एक ओर इन्हें प्राप्त करने के लिए भारी मुद्रा खर्च करनी पड़ती थी वहीं दूसरी ओर इनके बिना रक्षा व्यवस्था को सम्पूर्ण कह पाना भी कठिन था। सच कहा जाए तो आज मिसाइलें किसी भी युद्ध का मुख्य केन्द्र बिंदु होती हैं। आज ऐसी निर्देशित मिसाइलें हैं जो हजारों मील की दूरी से लक्ष्य बेध सकती हैं। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दुनिया ने 1991 के खाड़ी के युद्ध में देखा था। उसके बाद ही मिसाइलें किसी भी युद्ध के लिए आक्रामक आयुध के रूप में उभरी थीं। इस दिशा में पहला कदम रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन ने वर्ष 1960 में उठाया था जब वहां पहली स्वदेशी हल्की एंटी-टैंक मिसाइल अभिकल्पित एवं विकसित की गयीं। इसके बाद 1970 के दशक में जमीन से हवा में मार करने वाली मिसाइलें विकसित की गयीं। हालांकि, वे आज उपलब्ध मिसाइलों की तुलना में कुछ भी नहीं थीं।

जुलाई 1983 में सरकार द्वारा इन्टीग्रेटेड गाइडेड मिसाइल डिवेलपमेंट प्रोग्राम को मंजूरी दिए जाने के बाद सैन्य शक्ति को अधिक सक्षम बनाने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की मिसाइलें विकसित की गयीं। आठ सौ करोड़ रुपए की इस परियोजना मे रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन की 21 प्रयोगशालाएं, 10 विश्वविद्यालय और सभी भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान दिन रात लगे हुए है जिनके 10-12 वर्षों के अनथक परिश्रम का परिणाम हैये अत्यंत शक्तिशाली मिसाइलें। चालीस से 150 किलोमीटर की दूरी तक जमीन से जमीन पर मार करने वाली 'पृथ्वी' मिसाइल भारतीय सेना में शामिल की जा चुकी हैं। धरती से हवा में मार करने वाली 'त्रिशूल' का भी उत्पादन आरम्भ हो चुका है। यह 9 किलोमीटर की दूरी तक मार

करने की क्षमता रखती है। एक एंटी टैंक मिसाइल 'नाग' भी विकसित की जा चुकी है जो 4 किलोमीटर की दूरी से किसी भी प्रकार के कवच को बेधने में सक्षम है। इनके अतिरिक्त मध्यम दूरी की प्राक्षेपिक मिसाइल 'अग्नि' ने विशेष रूप से दुनिया भर का ध्यान आकर्षित किया है। कहा जाता है कि भारत कुछ सामरिक अपरोधक 'अग्नि' मिसाइलें भी विकसित करेगा। हल्के लड़ाकू विमानों के लिए हवा से हवा में ही मार करने में सक्षम 'अस्त्र' मिसाइलें भी परियोजना में शामिल है।

विभिन्न परियोजनाओं को पूरा करने के लिए रक्षा अनुसंधान एव विकास संगठन देश के अनेक अनुसंधान एवं शिक्षा केन्द्रो के साथ मिल कर काम कर रहा है। देश की सुरक्षा के लिए बनाए जा रहे हल्के लड़ाकू विमानों के विकास में देश के 40 विभिन्न प्रतिष्ठान भाग ले रहे हैं। एक स्वदेशी लड़ाकू विमान आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अब तक भारतीय वायु सेना को विदेशी लड़ाकू विमानों, विशेष रूप से रूसी विमानो पर निर्भर रहना पड़ता था जिनके पुर्जे मिलना कई बार बहुत कठिन हो जाता था। इसके अतिरिक्त, मिग-21 विमान

हल्का लडाकू विमान

तकनीकी दृष्टि से भी अब काफी पुराने हो चुके थे। इन्हीं सब कारणों को ध्यान में रखते हुए, 1960 के दशक के आरम्भ मे बहुउपयोगी लड़ाकू विमान बनाने का निर्णय किया गया। जिसका पहला प्रारूप 1962 में तैयार हुआ। 'मारूत' नामक एच एफ-24 विमानों ने विश्व भर का ध्यान आकर्षित किया। यद्यपि 1971 के युद्ध में इन विमानों ने अपनी विश्वसनीयता सिद्ध की किन्तु इसके इंजन में सामर्थ्य की कमी तीव्रता से अनुभव की गयी और इसकी कमियों को दूर करने के लिए कार्यक्रम न चलाए जा सकने के कारण 'मारूत' परियोजना ठप्प हो गयी।

कुछ समय के लिए वैमानिक गतिविधियों में जैसे ठहराव सा आ गया। 1981 में एक बार फिर बहुउपयोगी हल्के लड़ाकू विमानों की जरूरत तेजी से महसूस की गयी और एक ऐसे विमान के निर्माण और विकास का निर्णय लिया गया जो न केवल हमारे देश की आवश्यकता के अनुरूप हो बल्कि विश्व बाजार में भी भारत का प्रतिनिधित्व कर सके। इस योजना की परिणति स्वरूप 1983 में भारत सरकार ने 560 करोड़ रुपए के हल्के लड़ाकू विमान (एल सी ए) बनाने की परियोजना को मंजूरी दी। इस कार्यक्रम की देखभाल का भार बंगलौर की एयरोनॉटिकल डिवेलपमेंट एजेंसी को सौंपा गया। लगभग सत्तर अनुसंधान संगठनों, राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान और लगभग सभी भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों को इस परियोजना में सहयोग देने के लिए 100 से अधिक छोटी योजनाएं पूरी करनी थी। यद्यपि फंड की कमी के कारण इस परियोजना को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा लेकिन 'मारूत' योजना के असफल हो जाने के बाद सरकार इस बार योजना को अधूरा नहीं छोड़ना चाहती। सरकारी सूत्रों के अनुसार सन् 2005 के आस पास ये हल्के लड़ाकू विमान भारतीय वायु सेना में शामिल हो सकेंगे।

इन हल्के लड़ाकू विमानों की सबसे बड़ी विशेषता होगी वायु से वायु, वायु से भूमि और वायु से समुद्र में कार्य करने की क्षमता। इस विमान का 34 प्रतिशत ढांचा केलवर, ग्लास और कार्बन जैसे सम्मिश्रों से बनाया जाएगा। इसका एक तिहायी भाग कार्बन सम्मिश्र और शेष एक तिहायी भाग एल्यूमीनियम मिश्रधातु का बना होगा जिससे इसका भार कम हो जाएगा। इसकी उच्च कार्यक्षमता जैसे कि द्रुतगम्यता, गति परिवर्तनीयता, भार अनुपात आदि इसके विशेष आकर्षण होंगे। इसमें एक 'गेट होम पैनल' व्यवस्था भी होगी जो सारे पावर सिस्टम फेल हो जाने की स्थिति में भी पायलट को वापस लौटा लाने मे सहायक होगी। इसमें प्रयोग किए जाने वाले 'काबेरी' नामक इंजनों का निर्माण बंगलौर के गैस टरबाइन रिसर्च इस्टेब्लिशमेंट में किया जा रहा है जिनके 1997-98 तक पूरा हो जाने की आशा है। ये इंजन विदेशी इंजनों की अपेक्षा इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि इनका निर्माण भारत की गर्म परिस्थितियों के अनुसार किया जा रहा है। आशा है कि भविष्य में ये विमान मिग और मिराज 3 जैसे विमानों का स्थान ले सकेंगे।

लड़ाकू विमानों के अतिरिक्त विभिन्न कठिन परिस्थितियो यथा बर्फ से ढकी चोटियों पर तो कभी तपते रेगिस्तानों मे सैनिकों को रसद पहुंचाने के लिए हल्के विमानों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए 1967 में एक वैमानिक कमेटी स्थापित की गयी जिसने एक ऐसे उन्नत और हलके स्वदेशी हेलिकॉप्टर (ए एल एच) की संस्तुति की जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ विदेशों से आयात की जाने वाली मशीनो के खर्च को भी कम कर सकें। लगभग तीस वर्षों बाद, दो प्रारम्भिक प्रारूपों की सफल उड़ानों के बाद इस कार्यक्रम की सफलता में कोई संदेह नहीं रह जाता। बंगलौर के हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स लि. द्वारा निर्मित ये उन्नत हल्के हेलिकॉप्टर आज विश्व बाजार में अपना महत्त्व रखते हैं बहुउपयोगी, द्वि-इंजन युक्त सस्ते हेलिकॉप्टर विशेष रूप से हिमालय के उच्च

पर्वतीय क्षेत्रों के लिए तो सर्वथा उपयुक्त हैं ही साथ ही वर्षा, आंधी, पानी, वर्फ, रेत आदि कैसी भी कठिन परिस्थितियों में काम करने की समान क्षमता रखते हैं।

एल सी ए और ए एल एच के अतिरिक्त डी आर डी ओ ने एक चालक रहित विमान का भी निर्माण किया है जिसका प्रदर्शन वर्ष 1995 की गणतंत्र दिवस परेड के अवसर पर किया गया था। 'अजीत' नामक यह चालकरहित विमान कठिन परिस्थितियों में सूचना प्राप्त करने या विभिन्न शस्त्र प्रणालियों को चलाने में सक्षम है।

वैमानिकी के क्षेत्र का एक अन्य महत्वपूर्ण्ण पक्ष है, पैराशूट। पैराशूट का प्रयोग दुर्गम स्थानों पर हवाई जहाज से सामान व सैनिकों को उतारने के लिए किया जाता है। रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन की आगरा स्थित प्रयोगशाला ने 60 किस्म के पैराशूट बनाए हैं जो गुणवत्ता की नजर से विदेशी पैराशूटो के समकक्ष हैं किन्तु कीमत में उससे दस गुना कम हैं। देश की वायुसेना तो इनका प्रयोग कर ही रही है, कुछ पैराशूटों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता भी मिली है। इनकी एक विशेषता यह भी है कि इनका निर्माण पूर्णरूप से स्वदेशी वस्तुओं से ही किया गया है। इससे जहां एक ओर करोड़ों की विदेशी मुद्रा की बचत हुयी है वहीं इनके निर्यात की संभावना भी बढ़ी है।

भारत की इस सुरक्षा यात्रा का एक और महत्वपूर्ण पड़ाव है 'अर्जुन'। आज 120 एम एम गन, फिन स्टेबिलाइजर तथा मल्टी बैरल राकेट प्रणाली 'पिनाका' के निर्माण से 'अर्जुन' की सुरक्षा व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो गयी है कि रूसी टी-72 टैंक अपना महत्व खो चुके हैं। वैसे टी-72 टैंकों का निर्माण यूरोपीय अवस्थाओं के अनुरूप किया गया था और अर्जुन इस देश की अवस्थाओं के अनुकूल है।

अर्जुन के लिए आवश्यक विभिन्न प्रणालियों का विकास, देश के विभिन्न संगठनों में किया गया है बल्कि यह विभिन्न
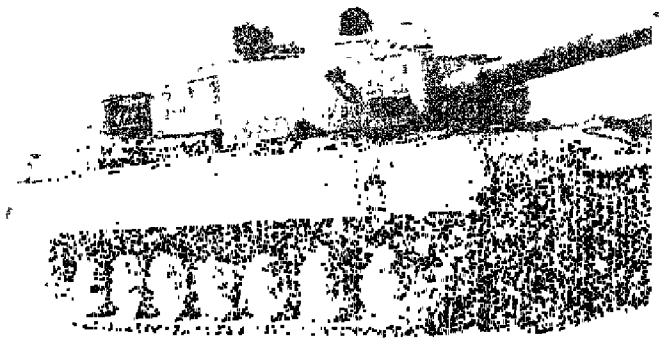
अर्जुन

सगठनों के एक साथ मिल कर सही तालमेल में व
का अच्छा उदाहरण है। इसमें प्रयोग किए जाने व
पियर्सिंग फिन स्टेबिलाइज्ड डिस्कार्ड सैबोट नामक
विकास पुणे स्थित एक्सप्लोसिव रिसर्च एण्ड डिवेलपमें
मे किया गया है। बंकर्स तथा अन्य मजबूत ठिकानो
करने के लिए इसमें एक हाई एक्सप्लोसिव स्क्वाश
है। तेज गति से आयुध प्रक्षेपित करने के लिए इ
की जाने वाली 120 मिलीमीटर राइफल्ड गन,
आर्मामेंट्स एण्ड डिवेलपमेंट एस्टिब्लेशमेंट में विकसित
है। हल्के भार वाला 'कंचन' नामक आर्मर हैदराबाद
मेटालर्जिकल रिसर्च लैबोरेटी में बना है जिसके
अभी तक ज्ञान नहीं है। इनके अतिरिक्त अर्जुन
रेडियो ट्रंक प्रणाली विभिन्न भूमिकाओं के लिए रड

ज़मीन से आकाश में मार करने वाली मिसाइल,
लिए बहुउद्देशीय रडार, रात्रि में देखने के
लेक्ट्रानिक युद्ध प्रणाली के उपकरण, लेजर सामग्रियां
कम्प्यूटरीकृत वारगेरस तथा ठोसावस्थित उपकरण,
लीन लड़ाकू वाहनों में श्रेष्ठ बनाते हैं। अब तक
ना में छः अर्जुन शामिल किए जा चुके हैं। ये
के पथरीले क्षेत्रों, राजस्थान की रेत, जम्मू कश्मीर के
को और पंजाब के पानी से भरे इलाकों में समान
नने की क्षमता रखते हैं।

युद्ध केवल जमीन या आसमान में ही नहीं होता
भी इससे अछूते नहीं हैं। समुद्र में बढ़ता प्रदूषण
उपकरणों को क्षति पहुंचा रहा है। इसका सर्वप्रथम
आर डी ओ की एक बम्बई स्थित प्रयोगशाला ने
र्जा स्थित रक्षा विज्ञान केन्द्र ने समुद्र से तेल के
खत्म करने के लिए एक हाइड्रोफोबिक सिल्का
इसकी विशेषता यह है कि यह पानी से तेल तो

सोख लेता है लेकिन जल से प्रभावित नहीं होता। समुद्र मे मौजूद जीवाणुओं का भी अध्ययन किया गया है जो पानी के जहाज की तली में चिपक कर उसे हानि पहुंचाते हैं। जहाजो की सुरक्षा के लिए एक विशेष प्रकार का पेंट बनाया गया है। नौसैनिक उपकरणों के क्षेत्र में उन्नत सोनार, सोनोवायस, अन्डरवाटर ट्रांस्ड्यूसरों आदि का विकास किया गया है जिनसे नौसेना जल के भीतर ही शत्रु की गतिविधियों को नियंत्रित कर पाने में सक्षम हुयी है।

युद्ध के लिए जहाज, हवाई जहाज और टैंक जितने जरूरी होते हैं उतने ही जरूरी होते हैं छोटे हथियार गोला बारूद आदि। जबलपुर की गन डिवेलपमेंट टीम ने सेना को सम्पूर्ण तोपखाना उपलब्ध कराया है। इनमें 105 मिलीमीटर की लाइट फील्ड गन प्रमुख है। इसकी विशेषता है इसका कम भार जिसके कारण इसे आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता है। पुणे स्थित आमामिंट रिसर्च डिवेलपमेंट एस्टिब्लेशमेंट ने एक नयी 5.56 मिलीमीटर के छोटे हथियारों की पूरी श्रृंखला बनायी है। इसके अन्तर्गत राइफल, लाइट मशीनगन और कार्बाइन आती हैं। पहले की तरह अब इनके लिए अलग अलग तरह के आयुध की जरूरत नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त मिसाइलों के लिए वारहैड, बम, पाइरोडिवाइसेस्, माइन लगाने और हटाने जैसी रक्षा में उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया गया है।

एक ओर जहां इतनी तरह के आयुध हैं वहीं इनसे सुरक्षा का दायित्व भी रक्षा अनुसंधान वैज्ञानिकों का ही है। हैदराबाद की डिफेन्स मेटालर्जिकल रिसर्च लेबोरेटी के वैज्ञानिकों ने एके-47 और 7.62 मिलीमीटर राइफल्स से चलने वाली गोलियों से सुरक्षा के लिए एक नयी प्रकार की बुलेट प्रूफ जैकेट का निर्माण किया है। वैज्ञानिकों ने पहले एक विशेष आर्मर जैकाल बनाया। बाद में इसी जैकाल स्टील का प्रयोग 'कवच' बनाने के लिए किया गया। कवच, कैनवस की बनी एक विशेष जैकेट होती है जिसके अंदर जैकाल स्टील की प्लेटे

लगा होता है पहनने वाले की सुविधा के लिए इसके अदर रबर के पड लगाए गए हे

एक पुरानी कहावत है 'जब पेट में न चारा तो लड़ेगा क्या बेचारा'। इसका ध्यान रखते हुए डिफेन्स फूड लेबोरेट्री, मसूर के वैज्ञानिकों ने 'रेडी टू ईट' मटन कीमा और दाल के पैकेज बनाए हैं। इन्हें पॉलीथीन के बेग में बंद किया गया है। बस गर्म पानी डालते ही ये खाने के लिए तैयार हो जाते हैं। इनके अलावा पोषक तत्वों से भरपूर संतुलित आहार जिसमे चाय, हल्वा सम्मिश्र, उपमा, चिक्की, पुलाव, मसालेदार आलू, चपाती, अचार, खिचड़ी, नमक, और मिर्च आदि होते हैं, तैयार किया गया है। पैकिंग के समय इसका भार एक किलोग्राम होता है जिसमें लगभग 4,800 कैलोरी ऊर्जा होती है। यह एक वर्ष तक रखा जा सकता है। युद्ध क्षेत्र में सदैव ईंधन, बर्तन और पीने के पानी आदि की सुविधा नहीं मिलती। ऐसी स्थिति के लिए 'सरवाइवल बार्स' बनायी गयी हैं। इनकी निधानी आयु 1 2 वर्ष तक होती है।

आज रक्षा के क्षेत्र में भारत में जो भी विकास हुआ है उसका श्रेय भारतीय रक्षा वैज्ञानिकों को जाता है जिन्होंने न केवल भारतीय सीमाओं को सुरक्षित बनाया है बल्कि भारत को विश्व के समकक्ष लाकर आत्मनिर्भर होने की दिशा में भी आगे बढ़ाया है। यदि हम रक्षा के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो सके तो न केवल रक्षा उपकरणों के आयात पर व्यय होने वाली विदेशी मुद्रा बचेगी बल्कि देश में विकसित सैन्य उपकरणों के निर्यात से आर्थिक लाभ भी होगा।

कम्प्यूटर के क्षेत्र में भी अग्रणी

हाल में ही तिरूवनन्तपुरम में 'हाई परफॉरमेंस कम्प्यूटिंग' पर आयोजित आई ई इन्टरनेशनल कान्फ्रेन्स में पुणे स्थित सेन्टर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ एडवान्स्ड कम्प्यूटिंग के अधिशासी निदेशक डॉ. विजय पी भाटकर ने कहा था कि आज भारतीय कम्प्यूटर, सुपर कम्प्यूटिंग प्लेटफार्म पर विश्व के समकक्ष हैं और वह अगर उनसे बेहतर नहीं हैं तो विश्व बाजार में उपलब्ध कम्प्यूटरों जितने तो अच्छे हैं ही। निस्संदेह भारत ने उच्च क्षमता वाले समानांतर कम्प्यूटरों के विकास में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है जिससे न केवल भारत मे कम्प्यूटिंग संस्कृति के विकास में सहायता मिली है बल्कि भारत में उपलब्ध अन्तर्राष्ट्रीय कम्प्यूटरों की कीमत भी प्रभावित हुयी है।

वर्ष 1987 में, पहली बार भारत में एक निश्चित अवधि में सुपर कम्प्यूटर अभिकल्पित और विकसित करने की परियोजना आरम्भ की गयी। यही वह समय था जब मौसम विशेषज्ञों को मानसून की सही सही भविष्यवाणी करने के लिए एक सुपर कम्प्यूटर की आवश्यकता थी। बड़ी कठिनाई से अमेरिका से एक सुपर कम्प्यूटर की व्यवस्था हुई। कुछ समय बाद जब बंगलौर के भारतीय विज्ञान संस्थान को वैसे ही एक और सुपर कम्प्यूटर की जरूरत पड़ी तो अमरीकी सरकार ने साफ इंकार कर दिया। लेकिन यही इंकार भारतीय कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इसी ने भारतीय

कम्प्यूटर वैज्ञानिकों को सुपर कम्प्यूटर बनाने के लिए प्रेरित किया जिसकी परिणति इस परियोजना के रूप में हुयी।

भारत सरकार ने भी इस स्वदेशी समानांतर संसाधन तकनीक के विकास में पूरा पूरा सहयोग दिया और 1988 में पुणे में सेन्टर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ एडवान्स्ड कम्प्यूटिंग अर्थात सी-डेक की स्थापना हुयी। इसका पहला उद्देश्य वर्ष 1991 तक 1-गिगफ्लॉप वाला समानांतर सुपर कम्प्यूटर बनाना था। इसी के साथ, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, डिफेन्स रिसर्च एण्ड डिवेलपमेंट ऑर्गेनाइजेशन के अन्तर्गत एडवान्स्ड न्यूमैरिकल रिसर्च एण्ड एनालीसिस ग्रुप अर्थात अनुराग, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद के अन्तर्गत नेशनल एयरोस्पेस लैबोरेट्री और सेन्टर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ टेलीमैटिक्स अर्थात सी डॉट ने उच्च क्षमता वाले समानांतर कम्प्यूटर के विकास से संबंधित परियोजनाएं आरम्भ की।

विभिन्न प्रयोगशालाओं में अनेक वैज्ञानिकों के दिन रात के अथक परिश्रम ने 1991 में भारत के पहली पीढ़ी के ऐसे समानांतर कम्प्यूटर को आकार दिया जो विदेशी सुपर कम्प्यूटर के समान सक्षम तो था ही, लेकिन जिसका मूल्य उसकी तुलना मे कुछ भी नहीं था। कहा जाता है कि अमेरिका की वह के एक्स एम पी मशीन जो वह भारत के हाथ बेचना चाहता था, आज भी किसी ग्राहक का इंतजार कर रही है। इसका कारण कदापि यह नहीं है कि वह मशीन बेकार है, बल्कि भारत द्वारा उसका सस्ता विकल्प, विकसित किया जाना है। इस तरह आज भारत कम्प्यूटर बाजार में अमेरिकी कम्प्यूटर का प्रतिद्वंदी बन गया है।

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी अनुसंधान के क्षेत्र में सुपर कम्प्यूटर संभवतः सबसे उपयोगी हथियार है, इसलिए सुपर कम्प्यूटर संबंधी अनुसंधान आज भारतीय विज्ञान का बहुचर्चित क्षेत्र है और यह परियोजना भारतीय अनुसंधान और विकास के क्षेत्र मे एक नए युग का सूत्रपात है

भारतीय सुपर कम्प्यूटरों की विकास यात्रा उस समय आरंभ हुई जब यह स्पष्ट हो गया कि अमरीकी और अन्य सरकारों के बढ़ते नियंत्रण के कारण उन्हें निर्यात करना लगभग असंभव है। सबसे पहले वर्ष 1986 में बंगलौर स्थित राष्ट्रीय विमानन प्रयोगशाला के प्रयासों का प्रतिफल फ्लोसॉल्वर के रूप में सामने आया। इसका मुख्य उद्देश्य तरल, गतिकी और वायुगतिकी मे आने वाली जटिल समस्याओं को सुलझाना था।

राष्ट्रीय विमानन प्रयोगशाला द्वारा निर्मित फ्लोसॉल्वर, भारत का पहला संक्रियात्मक समानांतर कम्प्यूटर था। तब से अब तक रा वि प्र अद्यतन रूपांतरों की एक पूरी श्रंखला बना चुका है। जिसके अन्तर्गत 16 बिट इन्टल 8086 और 8087 प्रोसेसर आधारित चार प्रोसेसर सिस्टम एमके 1 और एमके 1ए, आठ प्रोसेसर सिस्टम युक्त फ्लोसॉल्वर एमके 1बी, इण्टल के 32-बिट 8086 और 8087 प्रोसेसर सिस्टम पर आधारित फ्लोसॉल्वर एमके 2 और आधुनिकतम फ्लोसॉल्वर एमके 3 हैं जो इण्टल के i860 आर आइ एस सी प्रोसेसर पर आधारित है। चौंसठ मेगाबाइट प्रति प्रोसेसर स्मृति वाला, 8 प्रोसेसरों से युक्त फ्लोसाल्वर एमके 3 का निर्माण भारतीय विज्ञान केन्द्र, बंगलौर के पर्यावरण विज्ञान केन्द्र में हुआ। यह भारतीय मौसम विभाग के लिए खरीदे गए क्रे एक्स एम पी की तुलना में कम शक्तिशाली है।

सुपर कम्प्यूटिंग को समर्पित कुछ प्रौद्योगिकीविदों ने एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया जिसका परिणाम छत्तीस महीनों के अल्प समय में सामने आया। अगस्त 1991 मे सी-डैक में विकसित लगभग 2 करोड़ रुपए की लागत वाला 'परम' नामक सुपर कम्प्यूटर आज दुनिया भर में सबसे सस्ता सुपर कम्प्यूटर है। यही कारण है कि जहां दर्जन भर घरेलू उपभोक्ताओं ने इसे खरीदा 'वहीं चार सुपरकम्प्यूटर विदेश भी भेजे गए' पहले 'परम 8000' सिस्टम में कम्प्यूटिंग नोडस के
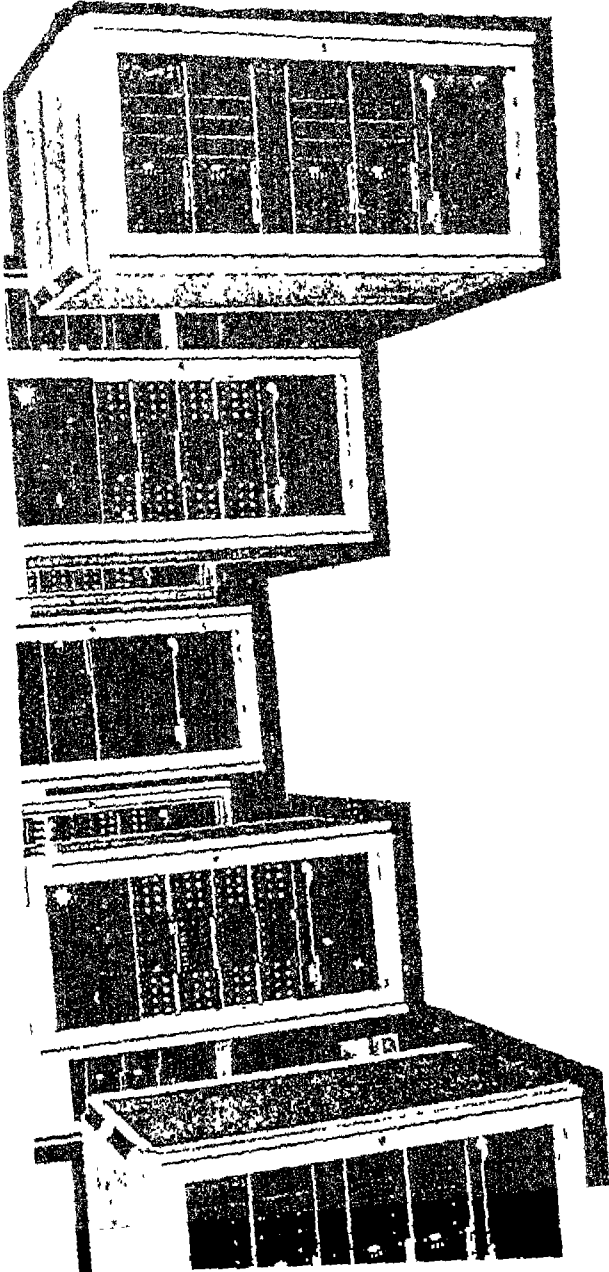
परम 8000

रूप में इन्मॉस 800 और 805 ट्रान्स्प्यूटर्स का उपयोग किया गया। 1992 के आरंभ में वैज्ञानिकों ने 'परम 8000' की क्षमता को कम आंकते हुए इसमें एक समाकलित इण्टेल i860 मुख्य प्रोसेसर और चार ट्रान्स्प्यूटर्स, कम्यूनिकेशन प्रोसेसर लगाए। अब इस परियोजना का प्रथम चरण पूरा हो चुका था।

इसके दूसरे चरण में एक ऐसा टेरा-फ्लॉप रेंज वाला समानांतर सिस्टम बनाया जाना था जो और भी दुरूह चुनौतियो का सामना करने में सक्षम हो। प्रोसेसर, स्मृति और कम्म्यूनिकेशन लिंक्स से संबंधित उपलब्ध नवीन प्रौद्योगिकियों के कारण इसकी क्षमताओं को बढ़ाना संभव हो पाया और तब 'परम 9000' अस्तित्व में आया। अब सी-डैक एक ऐसे टेरा-फ्लॉप सुपरकम्प्यूटर को बनाने के लिए कटिबद्ध है जो परम 8000 से 1000 गुना अधिक शक्तिशाली हो। आशा है कि वर्ष 1999 तक पूरा हो जाने वाला यह टेरा-फ्लॉप कम्प्यूटर पलक झपकते ही 20 खरब गणितीय गणनाएं करने में सक्षम होगा।

परम, विकास और अनुसंधान के क्षेत्र में अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के साथ साथ उस क्षमता को भी प्रदर्शित करता है जो भारत के प्रौद्योगिकीविदों में मौजूद है। लोग इसे प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त सिद्धांत और गणनाओं से परे एक तीसरी विधा के रूप में देखने लगे हैं। 256 प्रोसेसिंग नोड्स वाला परम यूरोपियन स्पेस एजेंसी के ई आर एस - 1 और भारत के आई आर एस - 1 उपग्रहों से प्राप्त सूचनाओं को भी ससाधित करने में सक्षम है।

रक्षा विज्ञान अनुसंधान एक ऐसा क्षेत्र है, जहां मिसाइलों और एयरक्राफ्ट की डिजाइनिंग से संबंधित जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए कम्प्यूटरों की जरूरत होती है। रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन की इस जरूरत को अनुराग ने समझा
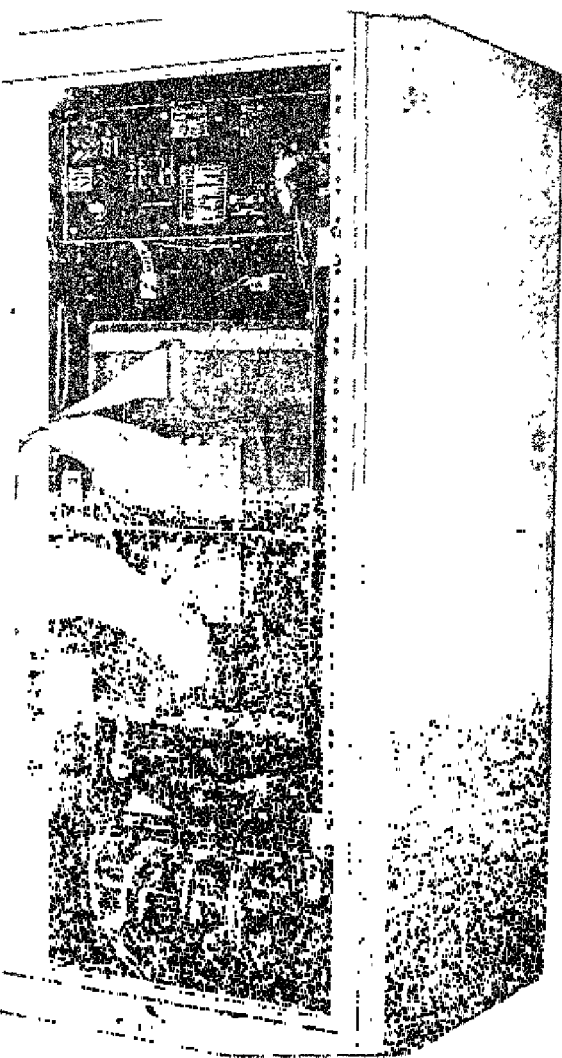
परम की भीतरी संरचना

र्थात प्रोसेसर फॉर एयरोडायनामिक कंप्यूटेशन एण्ड
रूप में साकार किया। पेस कार्यक्रम का आरंभ
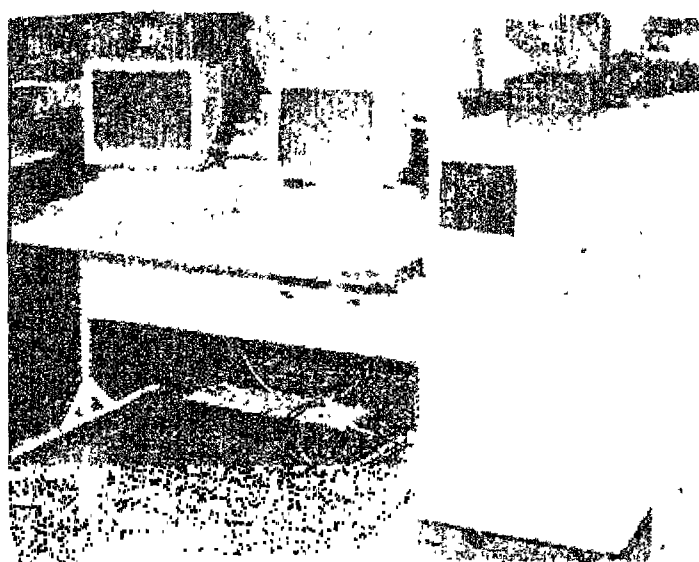
रा वि प्र का फ्लोसॉल्वर

अगस्त 1988 में हुआ। चार नोड वाले प्रोटोटाइप में 1
मेगाहर्ट्ज मोटोरोला एमसी 68020 प्रोसेसर का प्रयोग
गया। इसके बाद अनुराग ने एक आठ नोड वाले प्ररूप
विकास किया। जिसमें 25 मेगाहर्ट्ज का एम सी 6
प्रोसेसर लगाया गया। पेस के आधुनिकतम प्ररूप मे
मेगाहर्ट्ज वाले हाइपर स्पार्क नोड का प्रयोग किया गया
इसकी क्रियाविधि सरल और सीधी है। पेस के विभिन्न प्र
पर विभिन्न एप्लीकेशन प्रोग्राम चलाए जा सकते हैं
लिंकपैक, फास्ट फोरियर ट्रांस्फार्म न्यूरल सिम्यूलेशन
आशा है कि ये निकट भविष्य में अनेक सुरक्षा
परियोजनाओं में सहायक सिद्ध होंगे। किसी बेंचमार्क कार्यक्र
लिए, पेस की क्षमता लगभग 100 मेगाफ्लॉप्स होती है
इसके लिए किसी विशेष शीतलन व्यवस्था की आवश्यकता
पड़ती जैसी कि क्रे के लिए जरूरत होती थी। यह इसकी
बहुत बड़ी विशेषता है।

वर्ष 1991 और 1992 के दौरान ही भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र स्थित कम्प्यूटर सुविधा के सदस्यों ने उच्च क्षमता वाली कम्प्यूटिंग सुविधा विकसित करने के लिए सी डैक से संपर्क स्थापित किया। उनका अनुमान था कि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्हें एक 200 मेगाफ्लॉप्स क्षमता वाली मशीन की आवश्यकता थी और वे स्वयं अपना समानांतर कम्प्यूटर विकसित करना चाहते थे।

वर्ष 1992 में, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र ने अपना 'अनुपम' नामक कम्प्यूटर विकसित किया जो स्टैन्डर्ड मल्टीबस i860 हार्डवियर पर आधारित था। मूल रूप से उन्होंने आठ नोड वाली मशीन बनाने की घोषणा की थी लेकिन उसे उन्होंने 16, 24, और 32 नोड तक विकसित किया। इसके बाद, इसे इलैक्ट्रॉनिक्स कारपोरेशन ऑफ इण्डिया को स्थानांतरित कर दिया गया जो भारत के परमाणु ऊर्जा विभाग के अन्तर्गत इलैक्ट्रानिक उपकरण बनाते हैं। यूनिक्स एस वी आर 4 नामक ऑपरेटिंग सिस्टम से चलने वाले मुख्य प्रोसेसर से युक्त अनुपम की क्रियाविधि अत्यंत सरल और सीधी है। इसमे उपभोक्ता समानांतर प्रोग्राम लिखने के लिए फोरट्रान 77 या ANSIC भाषाओं का प्रयोग करते हैं। आज अनुपम भा प अ केन्द्र के वैज्ञानिकों और इंजीनियरों के साथ साथ उपभोक्ताओं के लिए भी उपलब्ध है। इसके अब तक 50 से अधिक अनुप्रयोग समानांतरित किए जा चुके हैं।

इस प्रकार रा वि प्र के फ्लोसॉल्वर, अनुराग के पेस और सी-डैक के परम के अतिरिक्त अनेक समानांतर संसाधन तंत्र विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं। उनमें से प्रमुख हैं चिप्स, जिसका निर्माण बंगलौर स्थित सेंटर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ टेलीमेटिक्स में हो रहा है। सी-डॉट के उच्च क्षमता वाले पैरेलल प्रोसेसिंग सिस्टम एकल अल्गोरिद्म, बहु-डाटा आर्कीटेक्चर पर आधारित है। इस बहुउपयोगी सिस्टम के तीन

प्ररूपः 192-नोड, 64-नोड और 16-नोड उपलब्ध हैं। मूल रूप से सी-डॉट ने इसे मौसम संबंधी भविष्यवाणियों और रेडियो खगोल विज्ञान आदि अनुप्रयोगों के लिए अभिकल्पित किया था। हाल में उन्होंने इसमें कुछ रूपांतरण किए हैं जिससे इसका उपयोग सामान्य वैज्ञानिक तथा अभियांत्रिक कार्यों में किया जा सके।

इसके अतिरिक्त भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर का मल्टी माइट्रो और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुंबई का मैक भी विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं। ये सभी भारतीय सुपर कम्प्यूटर निःसंदेह मौसमविज्ञानियों के लिए मौसम संबंधी आंकडों के संसाधन, वैज्ञानिकों के लिए नई औषधियों के अभिकल्पन, और लंबे चौड़े आंकड़ों को संग्रहित करने वाले वित्त संस्थानों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

आज कम्प्यूटरों ने काम काज को एक नया रूप दिया है। फाइलें और रजिस्टर अब दफ्तरों से विदा लेने की तैयारी में हैं। जहां बहुत अधिक आंकड़े जमा करने पड़ते हों जैसे कि रेलवे आरक्षण, कम्प्यूटर सर्वाधिक सफल हो रहे हैं। एक सामान्य कम्प्यूटर की अपेक्षा सुपर कम्प्यूटर कई गुना तेज होते हैं। कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो उत्साह आज दिखायी पड़ रहा है, यदि वह भविष्य में भी बना रहा तो निश्चय ही एक दिन कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत सारे विश्व में अग्रणी होगा।

टेलीकम्युनीकेशन: गांव जुड़े शहरों से

आज आयी सूचना क्रांति और उपग्रह प्रदत्त संचार सुविधाओं के कारण सारा विश्व एक छोटे से दायरे में सिमट आया है। लेकिन भारत जैसे गरीब देश में दूरदराज के गांवों को भी नियमित संचार सुविधा उपलब्ध करा इस दायरे में समेट पाना सरल कार्य नहीं था। इसका एक कारण तो यहां की संचार प्रणालियों का विदेशी होना था अर्थात हम इस क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं थे बल्कि हमें विदेशी प्राद्योगिकी का मुंह देखना पड़ता था जो न केवल महंगी थी बल्कि भारतीय परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल भी नहीं थी। जैसे कि भारत एक गर्म जलवायु वाला देश है इसलिए इन मशीनों के लिए महंगे वातानुकूलित कक्षों की आवश्यकता थी। दूसरी सबसे बड़ी जरूरत थी इन मशीनों को चलाने के लिए विद्युत आपूर्ति की। हमारे देश में तो अभी भी बहुत से गांव ऐसे हैं जहां बिजली पहुंचाना भी एक विकट समस्या है।

वर्ष 1988 के मध्य में कर्नाटक का एक छोटा सा गाव कित्तूर जैसे अचानक ही सोते से जाग पड़ा। वहां एक अजीब सी हलचल दिखायी देने लगी थी। इस परिवर्तन का कारण था वहां नवस्थापित टेलीफोन एक्सचेंज जिसने हाल ही में काम करना शुरू किया था। कित्तूर में स्थापित किए गए इस 128 लाइनों या पोर्ट वाले ग्रामीण स्वचालित एक्सचेंज (रूरल ऑटोमेटिक एक्सचेंज, रेक्स) की विशेषता यह थी कि इसे
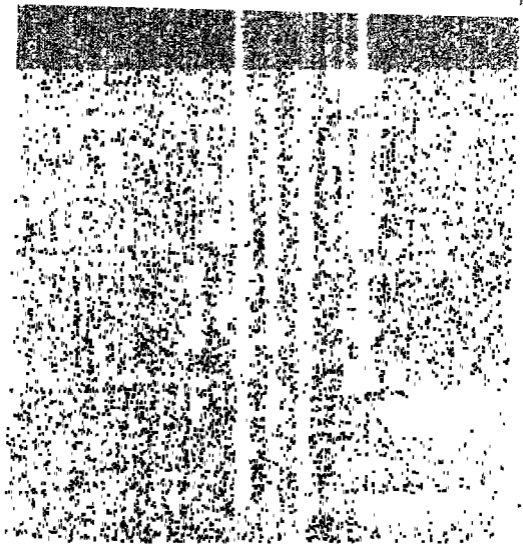
इलैक्ट्रॉनिक एक्सचेंज

फॉर डिवेलपमेंट टेलीमैटिक्स (सी-डॉट) ने
ल्पित, विकसित और निर्मित किया था। य
में काम करने के लिए पूरी तरह उपयुक्त
कास के पीछे सबसे बड़ा उद्देश्य देश के वि
ापस में जोड़ कर एक सूत्र में बांधना था।
भारतीय टेलीकॉम इंजीनियरों द्वारा विकसित
ंज संभवतया भारतीय परिस्थितियों के लिए
इसके लिए न तो नियंत्रित तापक्रम की
है और न ही धूल या आर्द्रतारहित पर्यावरण
। मे प्रयोग किए गए घटक इसे देश भर
यु में काम करने की क्षमता प्रदान करते हैं
ाजस्थान के थार रेगिस्तान के गर्म और धूल
उतनी ही उपयुक्तता से काम कर रहा है

खासी पहाड़ियों की आर्द्रता भरी जलवायु में। अब
भर में लगभग 8000 रेक्स एक्सचेंज स्थापित किए
जिसका लाभ 10 लाख से भी अधिक उपभोक्ताओं
हा है।
भी टेलीफोन एक्सचेंज का मुख्य भाग होता है
स्टम। पुराने स्ट्राजर और क्रासबार एक्सचेंजों में
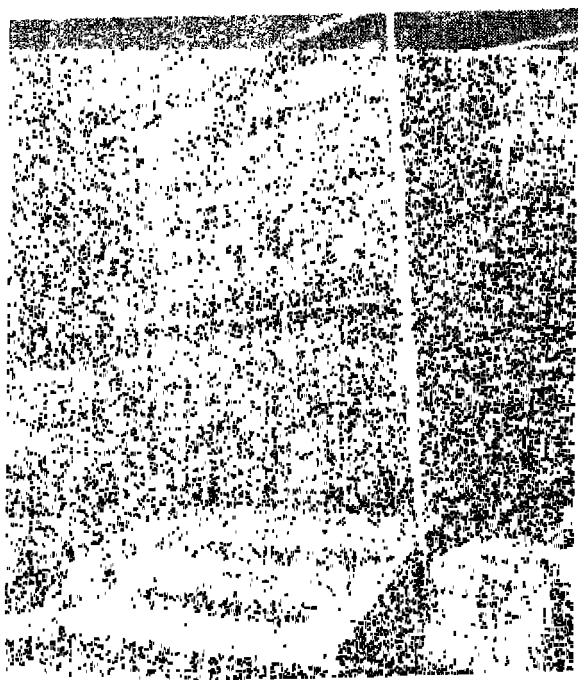
आई एल टी एक्सचेंज

वैद्युतयांत्रिक भाग होते थे जिन्हें दो टेलीफोन उपभोक्ताओं के बीच संपर्क स्थापित करने के लिए अपने स्थान से हिलना पडता था। आधुनिक एक्सचेंज भी कहलाते तो 'स्विचिंग सिस्टम' ही हैं लेकिन इनमें ऐसे घटक नहीं होते जिन्हें अपने स्थान से हिलना पड़े। सी-डॉट द्वारा विकसित रेक्स तथा अन्य सभी उन्नत मॉडिल कम्प्यूटर संचालित हैं जिनमें मानवीय सहयोग की बहुत कम जरूरत पड़ती है। एक्सचेंज को चलाने के लिए आवश्यक कम्प्यूटर प्रोग्राम, सिस्टम सॉफ्टवेयर में रॉम (रीड ओनली मेमोरी) के रूप में संग्रहीत रहता है। 128-पोर्ट वाले रेक्स में 64 किलोबाइट और 256-पोर्ट वाले रेक्स में इसकी दुगनी क्षमता वाला सॉफ्टवेयर होता है।

रेक्स की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कई घंटों तक बैटरी की ऊर्जा पर काम कर सकता है। यही कारण है कि यह उन गांवों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है जहां बिजली की नियमित आपूर्ति उपलब्ध नहीं है। अब सी-डॉट मे ऐसे एक्सचेंज बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं जो सौर ऊर्जा द्वारा काम करेंगे। इसके लिए ऐसे कम्प्यूटर चिप्स (मेटल ऑक्साइड सेमीकन्डक्टर टाइप) और माइक्रोप्रोसेसरों का चुनाव किया गया है जिन्हें न केवल कम ऊर्जा की आवश्यकता होती है बल्कि काम करते समय बहुत गर्म भी नहीं होते। इस विशेषता के कारण ये उन गांवों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे जहां अभी बिजली पहुंची ही नहीं है। दूसरे गर्म न होने के कारण इन्हें किसी विशेष प्रकार के कूलिंग सिस्टम की भी जरूरत नहीं होती। इसके निचले भाग में लगे कृत्रिम पैनल, उष्मा के प्राकृतिक संवहन द्वारा इसे ठंडा बनाए रखने मे सहायक होते हैं। इसमें निर्गम इस प्रकार बनाए गए हैं कि चूहे इसके केबिनेट में घुसकर इसके परिपथ को किसी प्रकार का नुकसान न पहुंचा सकें।

128 और 256 पोर्ट एक्सचेंज का आकार एक छोटी मेज के बराबर होता है जिसमे आ पडने पर एक साथ

ों को जोड़ा जा सकता है। पूरी तरह समस्या मुक्त
 करने के लिए इसमें कुछ अतिरिक्त तंत्र रखे गए
 यदि एक इकाई किसी वजह से काम करना बंद कर
ी प्रकार की दूसरी इकाई तुरंत काम संभाल ले।
ारिक्त एक्सचेंज के अंदर ही एक देखभाल तथा
नल लगाया गया है जो तुरंत ही दोष का पता लगा

लीकॉम नेटवर्क के पांच स्तर होते हैं। जिसमें सबसे
 है मुख्य स्विचिंग केन्द्र और सबसे निचला स्तर है
एक्सचेंज। इनके बीच में प्राथमिक, द्वितीय और
एक्सचेंज होते हैं। 256-पोर्ट रेक्स तृतीयक और
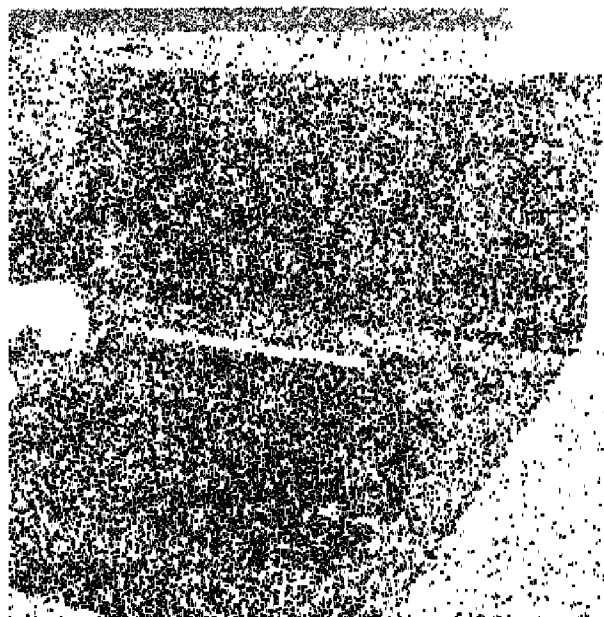
टर्मिनल एक्सचेंज स्तर पर लगाया जा सकता है जहां से इसे सीधे उपभोक्ता से जोड़ा जाता है। लेकिन सड़क पर सुरक्षित और बाधाहीन यातायात के लिए केवल बेहतर जोड़ ही नहीं सीधा सरल रास्ता भी जरूरी होता है। रेक्स अच्छे ब्रिज का काम करता है।

टेलीफोन की लाइनें या ट्रांसमीटर उपकरण, जो यहां टेलीफोनिक यातायात के लिए सड़कों का काम करते हैं, भी उतने अच्छे होने चाहिए। आज इस क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या यही टेलीफोन लाइनें हैं जो बहुत पुरानी और घटिया स्तर की हैं। लेकिन उपग्रहों के बढ़ते उपयोग से तेजी से और काफी हद तक इस समस्या को हल करने में सहायता मिली है। वास्तव में भूस्थैतिक उपग्रहों में इनसैट श्रृंखला के विशेष रूप से इनसैट 2सी के प्रक्षेपण के बाद से संचार सुविधाओं में काफी सुधार हुआ है।

इसके अतिरिक्त अनेक मुख्य लाइनों को ऑप्टिकल फाइबर केबल द्वारा बदला गया है। इससे इनकी क्षमता बहुत बढ़ गयी है और ये पारम्परिक तांबे के तारों की तुलना में कहीं अधिक संख्या में 'कॉल्स' का आदान प्रदान कर सकती हैं। जल्दी ही उपग्रहों की सहायता से चलते वाहनों जैसे रेलगाड़ियों आदि में संचार सुविधा सुचारू रूप से उपलब्ध हो सकेगी।

आज अंकेल और कित्तूर जैसे छोटे गांव शहरों की भांति आधुनिक टेलीकॉम सुविधाओं जैसे कि एस टी डी और आई एस डी, कॉल प्रतीक्षा, सुबह का अलार्म और मदवार बिलिंग आदि का लाभ उठा रहे हैं। ये सभी सुविधाएं रेक्स में निहित हैं और ये सक्षम और सुचारू टेलीकॉम सेवा उपलब्ध करा रहा है। अब गांवों में लोगों को वैद्युतयांत्रिक रिले उपकरण की भनभनाहट, खड़खड़ाहट और झनझनाहट सुन कर परेशान नहीं होना पड़ता। अब उन्हें ऑपरेटरों की दया पर भी निर्भर नहीं रहना पड़ता। आज आधुनिक ग्रामीण स्वचालित एक्सचेंज

लिए किसी वरदान की तरह हैं जिसने उन्हें अनेक
से मुक्त कर दिया है।

के लिए एक बड़ा टेलीफोन एक्सचेंज विकसित करने
प्रयास के साथ साथ भारतीय वैज्ञानिकों और
ने शहरी लोगों की आवश्यकताओं को भी
किया है जो अब तक क्रियात्मक टेलीकॉम नेटवर्क
है। सेन्टर फॉर डिवेलपमेंट ऑफ टेलीमेटिक्स ने
इनो की क्षमता वाला एक विशाल टेलीफोन एक्सचेंज
या है। जिसे 'मेन ऑटोमेटिक एक्सचेंज' अर्थात
है।

निर्मित कुल 33 एक्सचेंजों में से 15 स्थापित भी
चुके है। सबसे पहले बंगलौर के निकट उल्सूर में
इस एक्सचेंज को स्थापित किया गया। अब तक
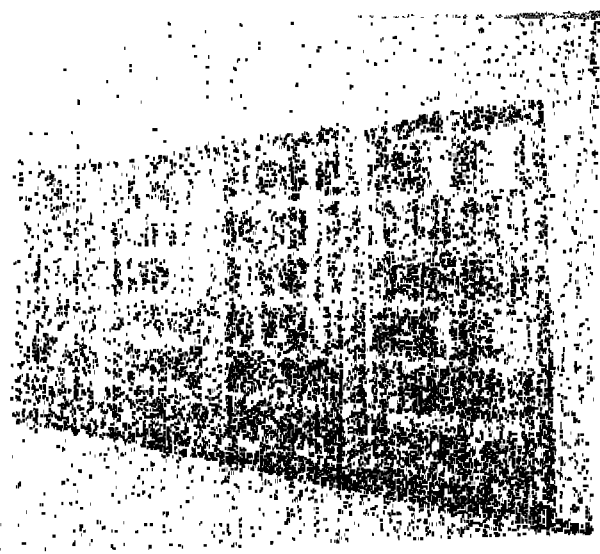
16000 पोर्ट का मुख्य स्वचालित एक्सचेंज (मैक्स)

इससे लगभग 9,700 लाइनों को जोड़ा जा चुका है। किसी भी एक्सचेंज की सफलता का पता, लाइनों की व्यस्तता से सुगमता से लगाया जा सकता है। उल्सूर एक्सचेंज सुबह 10.45 से 11.45 के बीच सबसे अधिक व्यस्त रहता है। कभी कभी तो इस समय 'कॉल्स' की संख्या एक लाख से भी अधिक हो जाती है। इसकी तुलना किसी भी विदेशी एक्सचेंज से की जा सकती है।

इससे विशाल 40,000 लाइनों की क्षमता वाला मैक्स-एल जल्दी ही दिल्ली कैंट में स्थापित किया जाना है। इसके अतिरिक्त 800,000 लाइनों की क्षमता वाला मैक्स-एस एल या सुपर लार्ज जल्दी ही तैयार होने वाला है। इतने विशाल एक्सचेंज का विकास करना कोई आसान काम नहीं है क्योंकि थोड़े से समय में सैंकड़ों हजारों लाइनों के लिए कम्प्यूटर प्रोग्राम लिखना, जांचना और दोषमुक्त करना आसान काम नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि मैक्स विकसित करने में समय कुछ अधिक लगा है लेकिन सफलता का मार्ग असफलताओं के बीच से ही होकर जाता है।